सामाजिक चेतना के बदलते आयाम: आठवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यासों में

THE CHANGING DIMENSIONS OF SOCIAL CONSIOUSNESS IN THE REPRESENTATIVE NOVELS OF SEVENTIES

Thesis submitted to the
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
for the Degree of
Doctor of Philosophy

By

GRACY K. J.

Supervising Teacher

PROF. (Dr.) S. SHAJAHAN

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
KOCHI - 682 022

1994

C E R T I F I C A T E

This is to certify that this THESIS is a bonafide record of work carried out by GRACY. K.J. under my Supervision for Ph.D and no part of this has hither to been submitted for a degree in any University.

Department of Hindi
Cochin University of
Science & Technology

Dr. S. SHAJAHAN
(SUPERVISING TEACHER)

KOCHI 682022
DATE 20-10-94.

प्राक्कथन

परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अपेक्षित भी । समय के साथ स्थितियों में परिवर्तन होता रहता है । परिवर्तित परिस्थितियाँ समाज की प्रतिष्ठित मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगा देती है । यह संक्रमणकाल साहित्यकार पर भारी दायित्व सौंप देता है । साहित्यकार समय और समाज की धडकन को स्वीकार कर अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक चेतना को रूपायित करता है । इस प्रसंग में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "सामाजिक चेतना के बदलते आयाम - आठवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यासों में " प्रासंगिक हो जाता है । यह अध्ययन आठवें दशक के प्रतिनिधि उपन्यासों के आधार पर सामाजिक चेतना के बदलते आयामों को पहचानने का प्रयास है ।

अध्ययन की सुविधा के लिए यह शोध प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है । पहला अध्याय स्वातंत्र्योत्तर कालीन सामाजिक परिवेश एवं मूल्यबोध है । इसमें स्वातंत्र्योत्तर कालीन सामाजिक परिवेश एवं परिवर्तित परिवेश से उत्पन्न नये मूल्यबोध की चर्चा की गयी है ।

दूसरा अध्याय है "आठवें दशक की रचना के मुख्य स्वर और प्रतिनिधि रचनायें । इसमें आठवें दशक की रचनात्मक पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए औपन्यासिक संकल्पना में आये परिवर्तन पर विचार किया गया है । साथ ही साथ यथार्थ के प्रति जागरूक दृष्टि और काल्पनिक स्थितियों के प्रति विमुखता प्रकटकर रचना के क्षेत्र में नई सीमाओं

एवं संभावनाओं की तलाश करनेवाले इस कालखण्ड की विशेषताओं का विश्लेषण प्रतिनिधि रचनाओं के आधार पर किया गया है ।

तीसरा अध्याय है गति एवं स्थिति उपन्यासों में । इसमें आठवें दशक के उपन्यासों के कथ्य पर विचार किया गया है । प्रतिनिधि उपन्यासों के आधार पर सामाजिक स्थितियों का चित्रण पात्र संकल्पना में आये परिवर्तन, सामाजिक दृष्टि एवं यथार्थ के बीच का संबंध, सहज स्थितियों का अन्वेषण आदि की चर्चा की गयी है । नगर चेतना के विविध आयाम एवं उपन्यास में चित्रित व्यक्ति एवं समाज की स्थितियों का अध्ययन भी प्रस्तुत अध्याय में शामिल है ।

चौथा अध्याय प्रतिबद्धता के स्वर और दिशा की खोज है । इसमें प्रतिबद्धता की परिभाषा देते हुए प्रतिबद्धता को रूपायित करनेवाले तत्वों पर विचार किया गया है । आठवें दशक के प्रतिबद्ध लेखन की सीमाओं और संभावनाओं पर विचार करते हुए सामाजिक प्रतिबद्धता पर प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है । साथ ही साथ सातवें दशक के उपन्यासों से दृष्टि में जो अन्तर आयी है, उसे पहचानने एवं नई दिशा के अन्वेषण को समझने का प्रयास भी किया गया है ।

पाँचवाँ अध्याय है संघर्ष एवं समन्वय उपन्यासों में । इसमें मूल्य की पुनर्व्याख्या की अपेक्षाओं एवं मूल्यच्युति की स्थितियों पर प्रकाश डालने की कोशिश की गयी है । व्यक्ति एवं समाज के बीच के संघर्ष पर विचार करते हुए रचनाओं के आधार पर व्यक्ति एवं समाज के बीच के समन्वय की ओर भी संकेत किया गया है ।

इस शोध प्रबन्ध के अन्तिम भाग में अध्ययन के निष्कर्ष को भी प्रस्तुत किया है ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग के प्रोफसर आदरणीय गुरुवर डा. एस. शाहजहाँ के निर्देशन में संपन्न हुआ है । मुझे उनसे निरन्तर प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मिलते रहे । उनके पथ-प्रदर्शन के अभाव में इस प्रबन्ध की पूर्णता असंभव ही होती । मैं उनके प्रति सदैव आभारी हूँ । विभागध्यक्षा डा. एम. ईश्वरी के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ । विभाग के पुस्तकालय की अध्यक्षा श्रीमती तंपुरान के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती हूँ । इस प्रबन्ध की पूर्ति में जिन मित्रों से मुझे प्रेरणा एवं सहायता मिली हैं उन सब के प्रति मैं आभारी हूँ ।

ग्रेसी. के. जे.

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय, कोचिन - 22.

दिनांक 20. 10. 1994.

पृष्ठ संख्या

भूमिका

पहला अध्याय 1 - 13

स्वातंत्र्योत्तरकालीन सामाजिक परिवेश एवं मूल्यबोध

स्वतंत्रता प्राप्ति एवं नई आकांक्षाओं की परिकल्पना - मोहभंग की स्थिति का विकास - सामाजिक स्तर पर उसका प्रभाव - मूल्य संबंधित दृष्टि में आये परिवर्तन - मूल्यबोध का पुनर्व्याख्या की आवश्यकता

दूसरा अध्याय 14 - 53

आठवें दशक की रचना का मुख्य स्वर और प्रतिनिधि

रचनायें

आठवें दशक की सामाजिक स्थिति - आठवें दशक की रचना की पृष्ठभूमि - नई सीमाओं और संभावनाओं का अन्वेषण - औपन्यासिक संकल्पनाओं में आये परिवर्तन - यथार्थ के प्रति जागरूक दृष्टि और काल्पनिक स्थितियों के प्रति विमुखता - प्रतिनिधि रचनायें - आपका बंटी - अन्तराल - मुरदाघर - प्रतिबद्ध - लाल पीली ज़मीन - नाच्यौ बहुत गोपाल - समय बोलता हुआ - कटरा बी आर्जू - चित्तकोबरा - महाभोज

पृष्ठ संख्या

तीसरा अध्याय 54 - 170

गति एवं स्थिति उपन्यासों में

आठवें दशक के उपन्यासों का कथ्य - सामाजिक स्थिति का चित्रण - पात्र संकल्पना में आये परिवर्तन - सामाजिक दृष्टि एवं यथार्थ के बीच का संबंध - सहज स्थितियों का अन्वेषण - नगर चेतना का वैविध्यात्मक स्वरूप - व्यक्ति और समाज उपन्यासों में

चौथा अध्याय 171 - 218

प्रतिबद्धता के स्वर और दिशा की खोज

प्रतिबद्धता - प्रतिबद्धता को रूपायित करनेवाले तत्व - प्रतिबद्ध लेखन की सीमायें और संभावनायें - सामाजिक प्रतिबद्धता - सातवें दशक के उपन्यास से दृष्टि में अन्तर - अविश्वसनीय स्थितियों का निरूपण - नई दिशा का अन्वेषण

पाँचवाँ अध्याय 219 - 256

संघर्ष एवं समन्वय उपन्यासों में

मूल्य - मूल्य की पुर्नव्याख्या और मूल्यच्युति की स्थितियाँ - व्यक्ति और समाज के बीच संघर्ष - व्यक्ति एवं समाज के बीच समन्वय

उपसंहार 257 - 258

सन्दर्भ ग्रंथ सूची 259 - 266

पहला अध्याय

स्वातंत्र्योत्तरकालीन सामाजिक परिवेश एवं मूल्यबोध

पहला अध्याय

स्वातंत्र्योत्तरकालीन सामाजिक परिवेश एवं मूल्यबोध

सामाजिक चेतना के बदलते आयामों पर आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से पहले उन तथ्यों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक बन जाता है जिनके आधार पर सामाजिक मूल्यबोध का रूपायन हुआ है । मूल्यों की संकल्पना वस्तुतः सामाजिक वैयक्तिक एवं परिवेशजन्य स्थितियों के आधार पर विविधात्मक स्वरूप को धारण करती है । भारतीय जनजीवन की मान्यताओं को परिवर्तित करनेवाला मूल्यबोध सामाजिक राजनैतिक आर्थिक और धार्मिक परिबोधों से जुडकर एक विशेष सीमा रेखा पर खडा होता है । मूल्यों की अवधारणा वैसे समय सापेक्ष आवश्यकताओं के अनुसार और उसके आधार पर बननेवाली जीवन दृष्टि के अनुसार परिवर्तित होती रहती है । संस्कृति, इतिहास एवं सामाजिक गतिशीलता इस मूल्यबोध के अनेकानेक पक्षों से जुडकर उसको बहुआयामी बना देते है । इन आयामों को समझने के लिए परंपरागत दृष्टि मात्र से उपयुक्त सहायता नहीं मिल सकती । स्वतंत्र मूल्यांकन और दृष्टि बदलती मूल्य संकल्पनाओं की गहराई को समझने के लिए आवश्यक है । जहाँ तक भारतीय जनजीवन में आये हुए मूल्य परिवर्तन का सवाल है यह कहना पडता है कि आज़ादी की प्राप्ति के साथ उसका गहरा संबंध है । आज़ादी की प्राप्ति और उसके बाद की स्थितियों के आधार पर उसका विवेचन करना इसलिए अत्यन्त आवश्यक बात बन जाती है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति एवं नई आकांक्षाओं की परिकल्पना

किसी भी देश का सामाजिक जीवन और मूल्यबोध की संकल्पनायें उस देश के सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक इतिहास से जुडी रहती है । इस कारण राजनैतिक एवं सत्तापरक परिवर्तनों से जीवन की दृष्टि एवं मूल्य संबंधित मान्यतायें परिवर्तन के अधीन हो जाती है । भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और उसकी परिसमाप्ति एक ऐसी सीमा रेखा है जो देश के समूचे जीवन को परिवर्तन के घेरे में आबद्ध करती है । आज़ादी की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते समय जनमानस में नई आकांक्षाओं का जन्म हुआ था । ये आकांक्षायें एक सुनहरे भविष्य के स्वप्नों को संजोनेवाली थी । अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद देश में खुशहाली की स्थिति व्याप्त हो जायेगी और लोगों की सारी दुविधायें समाप्त हो जायेगी । यह उनकी मूल कल्पना का आधार था ।

स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ साथ संविधान में जिस घोषणा को ज़ारी किया था, उसके आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेदभावना की नीति समाप्त होनी थी । उसी प्रकार जाति धर्म भाषा और प्रान्त के आधार पर भेदभाव भी अस्वीकार्य था । इसलिए युवा पीढी के मन में और स्वतंत्रता संग्राम में भागीदार होनेवाले लोगों के मन में देश का एक उज्ज्वल भविष्य रूपायित हो रहा था । आज़ादी की प्राप्ति के प्रभात के साथ नये युगबोध की सृष्टि का सपना भी उनके मन में जन्म ले चुका था ।

मोहभंग की स्थिति का विकास

आज़ादी की प्राप्ति के साथ देश-विभाजन की दर्दनाक स्थिति पैदा हुई और लहू की नदियाँ बह निकली । भाई, भाई के खून का प्यासा बना और अहिंसा के इस देश में हिंसा की अग्निज्वालायें भभक उठीं । उस अग्नि में सारी मानवीयता समाप्त हुई । और देश विभाजन के बाद अविश्वास अनास्था और नफरत की भावना जनमानस को घेरने लगी । मूल्यों के प्रति अनास्था और दैवी नीति के अन्यायपूर्ण पक्ष लोगों के मन में उभरकर आने लगे । प्रभात की रोशनी के बदले विभाजन के अन्धकार ने हर मन को आतंकित कर दिया । और इस आतंक से मोहभंग की प्राथमिक स्थितियों का जन्म होने लगा ।

देश विभाजन की दुर्घटना से देश जब पीड़ित हो रहा था तभी राजनैतिक घाँघली के नये पक्ष उभरकर आने लगे । अंग्रेज़ों के जाने के बाद काँग्रसी लोग उन्हीं की कुर्सियों पर बैठकर देश सेवा के नाम पर जनशोषण का काम करने लगे । उनकी सहायता के लिए ऐसे अफ़सरों का एक वर्ग रूपायित होने लगा जो हर भ्रष्टता को सत्ता की आड़ में प्रतिष्ठित करने लगा । "इस वर्ग ने स्वार्थ की लड़ाई के रूप में एक नया रूप धारण कर लिया है । नौकरशाही अफ़सरशाही बन गयी, जिसने राजनैतिक आकांक्षाओं के लिए भ्रष्टाचार, भाई भतीजावाद, साम्प्रदायिकता की नई रूढ़ियों को जन्म दिया ।"[1] इस प्रकार भाई भतीजावाद भ्रष्टाचार

---

1. डॉ. कीर्तिकेसर - समकालीन कहानी के विविध सन्दर्भ - पृ. 56

घूसखोरी, साम्प्रदायिकता और शोषण के माध्यम से नेताओं ने जनता को अपने पैरों के तले रौंदा और स्वार्थ पूर्ति के सारे साधन जुटाये । न्याय और नीति के प्रति तिरस्कार की भावना अपनायी गयी और सत्ता के बल पर अमानवीय अत्याचारों का कार्यक्रम शुरू किया गया । साधारण जनता शोषण और दमनचक्र के नीचे पिसी जा रही थी । और उसके उद्धार की संभावना असंभव सी थी । आज़ादी की प्राप्ति के बाद के तीन चार दशक ऐसी मनस्थिति को जन्म दे गये कि परिणामस्वरूप देशवासियों के मन में किसी भी व्यक्ति नेता या वर्ग के प्रति सम्मान का भाव नहीं रहा । बदले जनता ये महसूस करती रही कि धन के बल पर किसी भी प्रकार के अत्याचार को न्याययुक्त ठहराया जा सकता है । उसे यह भी मालूम हो गया कि सत्ता कभी भी गरीबों की रक्षा के लिए नहीं आ सकती और अमीर ही सत्ता के बल पर अपना लाभ बना सकते हैं ।

आर्थिक क्षेत्र में पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा परिवर्तन लाने का जो प्रयास किया गया वह अधूरा ही रह गया । योजनायें सफल नहीं हो पायी । धन और दौलत इने गिने लोगों के हाथ में इकट्ठे हो गये कारखानों के मालिक और पूँजीपतियों के इशारों पर सरकार नाचने लगी । फलतः अमीर और भी अमीर बनते गये और गरीब और भी गरीब । "इसी समय राष्ट्रीय क्षितिज पर अंधेरे की रेखायें खिंचने लगती है । संविधान ने जिस जिस समाज रचना का सपना सामने रखा था, वह मिटते दिखाई देता है, क्योंकि वे नेता, जो भविष्य निर्माण के लिए उपस्थित थे, भ्रष्ट

हो गये थे ।[1] समाजवाद की स्थापना के स्वप्न अधूरे ही रह गये । समान अवसर किसी को नहीं मिला । नौकरियाँ किसी को नहीं मिलीं । अर्थ का विभाजन भी समान रूप से नहीं हुआ । ऐसी स्थिति में मोह भंग का जन्म लेना स्वाभाविक था । स्वातंत्र्योत्तर काल की मानसिकता इस तरह निराशा और मोह भंग के आधार पर रूपायित होने लगती है ।

सामाजिक स्तर पर उसका प्रभाव

परिवेशजन्य स्थितियों ने नई पीढी पर ऐसा दबाव डाला कि उसकी दूरगामी दृष्टि भंग हो गयी । और अभिशाप की काली मँडराती छाया के नीचे पथभ्रष्ट होकर वह भटकने के लिए बाध्यसीय हो गयी । महामानव की संकल्पना, सत्य अहिंसा और नीति के प्रति आस्था, आदर्शों के प्रति प्रतिबद्ध होने की अभिवाँछा, धर्म जाति और भाषा के दायरों से ऊपर उठकर सोचने की क्षमता आदि का ह्रास होता गया और मानव बहुत ही बौना बनता गया ।

उधर शहरीकरण की प्रक्रिया ज़ारी रही । और गाँव और कस्बों के स्थान पर नये शहर उभरकर आने लगे । यान्त्रिक संस्कृति के विकास के साथ विकसित होनेवाले ये शहर नई समस्याओं के केन्द्र

---

1. कमलेश्वर - नई कहानी की भूमिका - पृ. 13.

बनते गये । अचानक जन्म लेनेवाले शहर की बहुमंजलीय इमारतों ने और उसमें आकर बसनेवाले दूर-दराज के लोगों ने सारे परिवेश को अजनबीपन से भर दिया । व्यक्ति भीड में अकेलापन महसूस करने लगा । व्यक्ति को लगा कि वह अजनबी है और उसका अपना कोई नहीं है । यान्त्रिक सभ्यता के विकास ने अर्थ को इस तरह प्रतिष्ठित किया कि आदमी और आदमी के बीच का संबंध भी अर्थ के आधार पर बनने लगा । परिणामस्वरूप "संयुक्त परिवार" की अवधारणा का अन्त हो गया और पति पत्नी मात्र "परिवार" के सदस्य रह गये । नौकरी पेशा करनेवाली महिलाओं का वर्ग नई समस्याओं का केन्द्र बनता गया ।

मूल्यबोध की अवधारणा में आनेवाला परिवर्तन अर्थ, संबंध, परिवेश एवं सेक्स के आधार पर अधिक जटिल होने लगा । आस्थाहीनता ने परंपरागत मूल्यों पर कठोर आघात किया और उनको धराशायी कर दिया । उधर पति-पत्नी के संबंध दैवी संबंध न रहकर भौतिक आवश्यकताओं के आधार पर बनने बिगडने लगे । अब शहर के वातावरण में नौकरी करनेवाली महिलाओं के लिए पति कभी कभी एक बोझ बनने लगा । क्योंकि पति के अलावा एक तीसरे व्यक्ति का आगमन भी पत्नी के जीवन में होने लगा । उसी प्रकार पत्नी के अतिरिक्त और किसी स्त्री के साथ संबंध जोडने की स्थिति में पति भी जीने लगा । इस तरह विवाहेतर संबंध अवैधता की कोटि से हटाये जाने लगे । और कहीं कहीं जाने अनजाने में ये वैध भी माने जाने लगे । इस तरह पति और पत्नी के संबंध अवसर

और स्थितियों के अनुकूल परिवर्तित होने लगे । परंपरागत रूप से यह भी मूल्यच्युति का श्रेष्ठ उदाहरण हैं । फिर भी परिवर्तित युगबोध के परिप्रेक्ष्य में यह च्युति न होकर एक तरह का "एडजस्टमेंट" हो गया । इस तरह के "एडजस्टमेंट" के लिए जो तैयार नहीं हो पाये थे, वह पराजित और "मिसफिट" होते गये ।

स्त्री स्वतंत्रता की माँग ने नये आयामों को स्वीकारा और पति द्वारा किये जानेवाले उत्पीडन को नकारते हुए तलाक की शरण लेने के लिए बाध्य किया । सेक्स की नई अवधारणा में स्त्री और पुरुष को उन्मुक्त रूप से मिलने की छूट प्रदान की । इस तरह नगरों में नई मूल्य संबंधी अवधारणायें जन्म लेने लगी, जिनमें परंपरागत मूल्यों का निषेध होने लगा ।

मूल्य संबंधित दृष्टि में आये परिवर्तन

स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य की रूपरेखा पर विचार करते समय स्पष्ट होने लगता है कि साठ और सत्तर के बाद पुराने मूल्यों को पूर्ण रूप से नकारा गया है । भ्रष्टता, राजनैतिक घाँधली, घूसखोरी सत्ता का दुरुपयोग, उन्मुक्त सेक्स की छूट, विवाहेतर संबंध, अर्थ की प्रतिष्ठा, अपराधों का सांशीकरण, सांप्रदायिकता, अनास्था आदि तत्व

जीवन के मूल्य क्षेत्र में प्रविष्ट गये । इन "नये मूल्यों" के आक्रमण से कोई भी क्षेत्र नहीं बच पाया है । लोक सभा, राज्य सभा, विधान सभा आदि से लेकर न्याय पालिका तक इसी के आक्रमण से बच नहीं पाये । शिक्षा संस्थायें इसका शिकार बन चुकी हैं । छात्रों की दृष्टि को सेक्स ने बुरी तरह से प्रभावित किया । समाज के हर स्तर पर इन मूल्यों की प्रतिष्ठा होती गयी ।

कुल मिलाकर पिछले चालीस वर्षों के जनजीवन के स्वरूप को अध्ययन का विषय बनाते समय लगता है कि भारतीय जनमानस गहरी मूल्यच्युति का शिकार बन चुका है । मूल्य परिवर्तन इस तरह हावी हुआ है । यही परिवेशजन्य दुविधा का परिणाम है ।

व्यक्ति समाज और मूल्य ऐसे शब्द है जिनका पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है वैसे "मूल्य" शब्द जितना संक्षिप्त एवं सरल प्रतीत होता है, मानवीय सन्दर्भ में उसकी व्याख्या उतनी ही व्यापक एवं कठिन हैं । जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने के लिए अर्थात उसे सही अर्थों में प्रगतिगामी बनाने के लिए ही मूल्यों की आवश्यकता अनुभव की गयी है । "जीवन को सम्यक एवं संयमित ढंग से चलाने के लिए विचारकों ने ऐसा अनुभव किया कि जीवन के लिए कुछ मानदण्ड रहना चाहिए ।

उन्हीं के आधार पर मूल्यों की बातें की जाने लगी और जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य आवश्यकताओं के आधार पर कुछ कसौटियाँ बनायी गयी । ये कसौटियाँ या मान्यतायें ही मूल्य हैं ।[1] मूल्य की स्थिति वस्तु की तरह दृश्य नहीं है । जिस प्रकार वस्तु को देखा जा सकता है, उस तरह से मूल्यों को प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, लेकिन चेतना के स्तर पर उसका अनुभव किया जा सकता है । इस प्रकार मूल्य दृश्य नहीं है बल्कि उसके यथार्थ पर अनुमान या धारणा के माध्यम से पहुँचा जा सकता है । इसलिए मूल्य के संबंध में यह कहना उचित होगा कि मूल्य अपने आप में एक अवधारणा (कान्सेप्ट) है । मनुष्य ने अपने जीवन में कुछ मान्यतायें निर्धारित की है जिन्हें मूल्य कहा जा सकता है । ये मूल्य मानव के विकास में सहायक होते है अर्थात मानवोत्कर्ष के लिए ही मूल्यों को स्वीकारा गया है ।

समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिए जैसे नियमों की आवश्यकता है उसी प्रकार व्यक्ति-जीवन एवं सामूहिक जीवन के पक्षों को व्यवस्थित करने के लिए मूल्य संबंधी अवधारणा का समर्थन आवश्यक हो जाता है । वैसे मूल्य व्यक्ति सापेक्ष और समय सापेक्ष होते है । समूह व्यक्तियों का झुण्ड होता है और इस कारण वैयक्तिक मूल्यों का समन्वित प्रभाव समूह पर पडता है । इस कारण सामूहिक मूल्यबोध की अवधारणा

---

1. डा. भागीरथ बडोल - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानव मूल्य और उपलब्धियाँ - पृ. 27

उस समूह के सदस्यों की वैयक्तिक मूल्य अवधारणा से बन्धित रहती है । सामूहिक मूल्यों का बदलाव तब दिखाई पडता है जब उस समूह के सदस्य धीरे-धीरे बदलाव को स्वीकार करते हैं । इस कारण सामूहिक मूल्यों में आनेवाला परिवर्तन धीरे धीरे जन्म लेता है ।

मूल्यबोध को परिवर्तित करनेवाले कारण वैयक्तिक होते हुए भी समय सापेक्ष होते हैं । समाज में होनेवाली क्रान्तियाँ, राजनैतिक परिवर्तन आर्थिक संकट, विघटन की प्रवृत्तियाँ और एक सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय दबाव, समय सापेक्षता को प्रभावित करनेवाले बाहरी तत्व है । वस्तुतः जब कभी भी उक्त बाहरी तत्वों में से किसी का जबरदस्त प्रभाव समाज पर पडने लगता है तब समाज मूल्य परिवर्तन के लिए बाध्य किया जाता है । मूल्यों की गतिशीलता को पूर्ण रूप से प्रभावित करनेवाला तत्व लोगों की मानसिकता से जुडा हुआ है । अतः उपर्युक्त तत्वों में से जो भी तत्व जनमानस को अधिक प्रभावित कर सकता है, उसी का परिवर्तित स्वरूप मूल्य अवधारणा में अधिक स्पष्टता के साथ परिलक्षित होता है ।

जहाँ तक भारतीय जन जीवन का सवाल है, स्वतंत्रता प्राप्ति के पिछले चालीस वर्ष बहुत ही निर्णायक सिद्ध हुए है । इन वर्षों में परंपरागत मूल्य मटमैले हुए और नये मूल्य उभरने के लिए उतावले होते रहे । जीवित समाज के लिए इस प्रकार की गतिशीलता और नये मूल्यों को

स्वीकार करना एक महान आवश्यकता है । इसकी पूर्ति के अभाव में समाज समय सापेक्ष आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकता और ज़िन्दा नहीं रह सकता ।

सामाजिक मूल्य न तो शाश्वत होते है और न ही निरपेक्ष । सामाजिक मूल्यों में बराबर परिवर्तन होता रहता है । यह परिवर्तन देश काल, वातावरण, आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर होते हैं ।"[1] मूल्य समाज की स्थितियों के अनुसार जब बदलने लगते है तब समाज का एक ऐसा स्वरूप उभरने लगता है जो व्यक्ति मूल्य और परिवेश की आपसी प्रतिक्रिया से जन्म लेता है । परिवेशजन्य स्थितियाँ व्यक्ति पर जो दबाव डालती हैं और व्यक्ति ज़िन्दा रहने के लिए जिन तत्वों को स्वीकार करने के लिए मज़बूर हो जाता है । आगे चलकर वही तत्व उसका दिशा निर्देशन करते है और कुछ समय के बाद उस व्यक्ति का और व्यापक अर्थ में उस समूह का मूल्य बन जाते हैं । इस तरह आवश्यकताओं के अनुसार, स्थिति सापेक्ष प्रतिक्रियाओं के अनुसार जन्म लेनेवाले व्यवहार की मान्यतायें मूल्य का स्थान ग्रहण करती है । यह एक स्वाभाविक एवं नैसर्गिक प्रक्रिया है जिसको कोई नहीं रोक सकता । मूल्यबोध में परिवर्तन की स्थितियाँ इस तरह जन्म लेती हैं और समाज को प्रभावित करती हैं ।

---

1. डॉ. हरदयाल - साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ. 18

मूल्यबोध की पुर्नव्याख्या की आवश्यकता

मूल्यों की पुर्नव्याख्या की आवश्यकता उपर्युक्त स्थिति में अधिक प्रासंगिक हो जाती है । क्योंकि परिवर्तन की तेज़ हवा किसी भी भूखण्ड को उपेक्षित नहीं रखती । विशेषकर आज के वैज्ञानिक युग में विश्व भर में होनेवाले परिवर्तन अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रह सकते । ऐसी हालत में भारतीय आचार संहिता के प्रतिमान जो कि हज़ारों वर्ष पुराने है, परिवर्तन के लिए बाध्य बन जाते हैं । क्योंकि इन आचार संहिताओं का विकास जिस काल में हुआ था उस काल की परिस्थितियाँ अब विद्यमान नहीं रही । इसलिए सत्य की जीत होगी, अहिंसा धर्म का अंश है, और दूसरों का कल्याण करने से ही जीवन धन्य होता है आदि सिद्धान्तों की प्रासंगिकता आज नष्ट हो गयी है । फिर भी ऐसे कुछ मानवीय मूल्य स्थिर होते हैं जिनको परिवर्तित करना स्वीकारा नहीं जाता । क्योंकि समाज के जीवित रहने के लिए इनका व्यावहारिक स्पष्टीकरण और पुष्टीकरण अनिवार्य है । और इनको हम मानवीय मूल्यों का मूलभूत आधार मानते हैं ।

मूल्यबोध के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समाज में प्रचलित मूल्य की अवधारणा समय के साथ बदलने के लिए बाध्य हो जाती है अन्यथा वह समाज जडता से युक्त होकर जीवित रहने के लिए अयोग्य बनता है ।

भारतीय साहित्य की रचना धर्मिता का आधार एक सीमा तक उपर्युक्त स्थितियों से जुडने लगता है । हिन्दी साहित्य की स्थिति और उसकी रचना दृष्टि भारतीय परिवेश में आये हुए मूल्य संक्रमण की विविध अवस्थाओं से जुडकर रूपायित होती है । सामाजिक चेतना के स्वरूप को निर्धारित करने में उपन्यासकारों ने समसामयिक जीवन की बोधवत्ता को एक बडी सीमा तक स्वीकारने का प्रयास किया है । औपन्यासिक परिकल्पनाओं में आये हुए परिवर्तन और उनकी गहराई को समझने के लिए परिवेश के दायरों से जुडी हुई उपर्युक्त स्थितियों का परिचय अनिवार्य हो जाता है । वैसे रचना की जीवन्तता की पृष्ठभूमि सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं की सजगता से अलग नहीं हो सकती । वस्तुतः सामाजिक चेतना लेखकीय रचना धर्मिता और रचना की जीवन्तता मूल्य परिबोध के विशिष्ट पक्ष बन जाते हैं ।

दूसरा अध्याय

आठवें दशक की रचना का मुख्य स्वर और प्रतिनिधि रचनायें

दूसरा अध्याय

आठवें दशक की रचना का मुख्य स्वर और प्रतिनिधि रचनायें

आठवें दशक की सामाजिक स्थिति

किसी भी दशक की सामाजिक स्थिति समझने के लिए उस दशक की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति समझना अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि राजनीति और अर्थ का वर्तमान जीवन में सर्वाधिक महत्व है । आठवें दशक में राजनीति ने समाज के विचारों और कार्यों को काफी हद तक नियन्त्रित किया है ।

इस दशक के आरंभ में याने 1971 में भारत पाकिस्तान युद्ध हुआ । पाकिस्तान ने भारत के कुछ हवाई अड्डों पर कब्जा करने की कोशिश की, पर भारत ने उसे हरा दिया और एक नये राष्ट्र बंगलादेश की सृष्टि हुई । इस दशक के प्रथम भाग में सरकार स्थिर रही । लेकिन राजनीतिज्ञों ने इतना भ्रष्टाचार फैलाया और इतने अनैतिक आचरण किये कि जनता की श्रद्धा सरकार से हट गयी । पूंजीपतियों से समझौते की राजनीति ने देश की आर्थिक स्थिति को कमज़ोर कर दिया । कहीं कहीं स्वार्थ पूर्ति हेतु सांप्रदायिकता को बढावा दिया गया । "सन् साठ के बाद कांग्रेसी सरकार की असफलता, स्वार्थपरता, भाई भतीजावाद और सत्तालिप्सा की कलई आम जनता के बीच धीरे धीरे खुलने लगी और धीरे धीरे कांग्रेस सरकार के

समाजवाद लाने का नुस्खा बेअसर होने लगा । सातवें दशक के अन्त में आते आते और आठवें दशक के प्रारंभ होते ही कांग्रेसियों की छबी इतनी मलिन और अविश्वसनीय हो गयी कि जनता को इससे वितृष्णा हो गयी ।[1] इस बीच 1975 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने श्रीमती गाँधी के चुनाव को अवैध घोषित किया तो कुर्सी को बनाये रखने के लिए उन्होंने देश में आपातकाल की घोषणा की । याने कांग्रेस सरकार ने अपनी सत्ता कायम रखने के लिए इमरजेन्सी लागू की । इस दौरान देश में मीसा के अन्तर्गत बिना कारण लोगों को जेल में बन्द किया गया । हर जगह अत्याचार और बलात्कार होने लगे थे । पुलिस अत्याचार, जबरदस्ती से नसबंदी, शहर की सुन्दरता बढाने के अभियान में गरीबों की झोंपडियों को गिराकर उन्हें निराश्रय करने की वृत्ति एवं विपक्षी नेताओं और पत्रकारों को जेल में बंद कर पीडित करने की निष्ठूरता प्रजातन्त्र पर प्रश्नचिह्न लगा देती है । चापलूसी राजनेता और अफसरों ने आपातकाल के दौरान जनकल्याण हेतु लागू की गयी योजनाओं का दुरूपयोग किया । इसके परिणामस्वरूप जब फिर से इमरजेन्सी के बाद चुनाव हुआ तो कांग्रेस बुरी तरह हार गयी और जनता दल विजयी हुआ । यह दल एक साल तक स्थिर रहा । पर इसके पश्चात् सभी जनता दल के सदस्य पद के लालच में आ गये और कुछ व्यक्तियों ने अलग-अलग पार्टी बना ली । अतः यह सरकार भी विफल हो गयी । इसके बाद फिर से कांग्रेस चुनाव में विजयी हुई । क्योंकि अब आम जनता को जनता पार्टी के स्थिर रहने पर सन्देह हो गया । वास्तव में जनता पार्टी के नेताओं ने अपनी स्वार्थ-लोलुपता और कुर्सी की लडाई से कांग्रेस को फिर सत्ता में आने का रास्ता खोल दिया ।

---

1. डा. जितेन्द्र वत्स - साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना - पृ. 251.

आठवें दशक में समाज की आर्थिक स्थिति में बडा परिवर्तन हुआ । युद्ध मुद्रास्फीति काला बाज़ारी आदि से महंगाई बढ गयी । महंगाई के कारण मध्यवर्ग और निम्नवर्ग को आर्थिक कठिनाईयों से गुज़रना पडा । मज़दूरों और मध्यवर्गीय कर्मचारियों द्वारा अपनी माँगों की पूर्ति के लिए आन्दोलन शुरू हुआ । लेकिन उच्चवर्ग के पूँजीपति लोग इन आन्दोलनों को कुचलने का प्रयत्न किया और गरीबों की गरीबी और बढ गयी । कई व्यक्ति बेरोज़गार भी हैं, अतः वे रोज़गार पाने के लिए निम्न से निम्न कार्य करने को तैयार हो गये हैं । आर्थिक विषमता के कारण मज़दूरों, कार्यालय के कर्मचारियों आदि को भी अपनी जीविका या आर्थिक स्थिति को मज़बूत करने के लिए अपने उसूल तोडने पडे या परिस्थितियों से समझौता करना पडा । दूसरी ओर कुछ लोग अपनी अर्थ पिपासा को शान्त करने के लिए अपनी बेटी, बहन या पत्नी तक को बेचने के लिए मज़बूर हो गये । एक ओर लोग आर्थिक विषमता के कारण निम्नीकृत हो गये हैं तो दूसरी ओर समाज का एक वर्ग केवल अपनी अर्थ पिपासा बुझाने के लिए निकृष्ट से निकृष्ट हरकत करने से नहीं चूक पाया । इसलिए आठवें दशक में मानव का अत्यधिक नैतिक पतन हुआ है । इस के लिए काफी हद तक मुद्रास्फीति, भ्रष्टाचार, सभी वर्गों द्वारा अर्थ को अत्यधिक महत्ता देना आदि जिम्मेदार हैं ।

"आठवें दशक में औद्योगीकरण के कारण बडे बडे शहरों में जनसंख्या बढती जा रही है । शहरों में अब शिक्षा, पाश्चात्य प्रभाव, आधुनिकता, प्रगतिशीलता, पुरानी रूढियों-संस्कारों का खण्डन, जातिवाद का खण्डन आदि से नारी के विचारों में परिवर्तन आया है ।"[1] अब नारी

---

1. डा. रजनीकान्त जैन - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 143

शादी करना आवश्यक नहीं समझती । वह शिक्षित है अतः अपनी जीविका स्वयं अर्जित कर सकती है । आज वह अपने को पुरुष के समान समझती है । अतः इस नयी प्रगति से पति-पत्नी में तनाव और उलझनें स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है । अन्य पारिवारिक संबंध पूर्व की तरह मज़बूत नहीं है । अब ये संबंध शिथिल हैं और आर्थिक धरातल पर स्थित हैं । मनुष्य रिश्तों को नहीं "अर्थ" को महत्व दे रहा है । व्यक्ति संबंध स्थापन में केवल अपने स्वार्थ की बात सोचता है, वह कुछ करना या देना नहीं चाहता । अर्थात् अब वह अपने हित के बारे में पहले सोचता है । अतः आज के मानव का दृष्टिकोण व्यापक न रहकर संकीर्ण हो गया है । वह अत्यन्त व्यावहारिक भी हो गया है ।

इसलिए मनुष्य अपने आप को समाज से अधिक महत्ता देता है । अतः अहं की प्रवृत्ति भी सहज ही बढ गयी है । इस दशक में यौन संबंधों में भी स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचारिता आ गई है । इसका कारण धर्म के बन्धनों से मुक्त आधुनिकता एवं पाश्चात्य प्रभाव है । यही कारण है कि उपन्यासों में प्रायः यौन संबंधों की व्यापक चर्चा है । आज के यान्त्रिक युग में कई मनुष्य निराशा, असफलता और सेक्स संबंधी इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण कुण्ठाग्रस्त हो जाते हैं । वे एक प्रकार से पागल हो जाते हैं । और उन्हें यह कुण्ठा किसी भी अवैध कार्य करने के लिए प्रेरणा देती है ।

इस नई और विषम परिस्थितियों के फलस्वरूप धीरे धीरे सांस्कृतिक चेतना का ह्रास, नैतिक मूल्यों का लोप और मनुष्य का पतन होता

जा रहा है । साथ ही धार्मिक बन्धनों की शिथिलता का प्रभाव सामाजिक जीवन पर पडा है । इससे नये एवं पुराने जीवन मूल्यों में संघर्ष और मूल्यहीनता उत्पन्न हुई । मनुष्य दिशाहीन एवं लक्ष्यहीन हो गया । इस दिशाहीनता और लक्ष्यहीनता के बीच कोई न कोई रास्ता ढूँढने का प्रयास भी समानान्तर रूप में होता रहा है जिसका आंशिक प्रतिफलन आठवें दशक की रचना धर्मिता को क्षमतायुक्त बनाता है ।

आठवें दशक की रचना की पृष्ठभूमि

आठवें दशक के उपन्यासों में पूर्ववर्ती उपन्यासों की तुलना में नई प्रवृत्तियों का विकास हुआ है । ये प्रवृत्तियाँ भिन्न परिस्थितियों घटनाओं, अनुभूतियों और विचारों के कारण उत्पन्न हुई हैं । और इसके प्रति भिन्न वर्गों की भिन्न प्रतिक्रियायें हुई । इन प्रवृत्तियों से उपन्यासकार भी प्रभावित हुए हैं और उन्होंने इनका चित्रण अपने उपन्यासों में पात्रों या घटनाओं द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किया है ।

हिन्दी उपन्यासों के नवीन विकास और प्रसार के पीछे युग की परिस्थितियों का प्रबल हाथ रहा है । वर्तमान समाज में फैली भ्रष्टाचारिता, राजनीतिज्ञों के चारित्रिक पतन, स्वार्थ, अर्थलोलुपता आदि से लेखक प्रभावित हुए हैं । राजनीतिज्ञ इतने स्वार्थ लोलुप हो गये हैं कि वे चुनाव जीतने के लिए जातिवाद और सांप्रदायिकता के विष को भी उगलते

रहते हैं । वर्तमान युवा पीढ़ी पुरानी परंपराओं, रूढ़ियों, कुरीतियों एवं जातिवाद से त्रस्त हो गयी है । आज वह इन सब के विरुद्ध विद्रोह कर रही है । यह शिक्षा के प्रसार राजनीतिक प्रचार और बढ़ती हुई विषमताओं के कारण हुआ है ।

इस दशक में समाज की आर्थिक स्थिति बहुत बदली है । युद्ध मुद्रास्फीति, औद्योगिक व्यापारी वर्ग के शोषण, कालाबाज़ारी आदि के कारण महंगाई बढ़ गयी । इस महंगाई के फलस्वरूप उद्योगपति और अधिक धनी और गरीब अधिक गरीब हो गये हैं ।

आठवें दशक में व्यक्ति अर्थ की ओर अधिक झुका है । आर्थिक दृष्टिकोण और धार्मिक बन्धनों में शिथिलता आती गई । धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति विरक्ति की भावना पैदा हो गयी । व्यक्ति अब परंपरा रूढ़ बन्धनों में बंधना नहीं चाहता । पति-पत्नी के संबंध पहले की तरह धार्मिक या भावात्मक न होकर अर्थमूलक हो गये हैं । इसी के फलस्वरूप परिवार में कुण्ठा, तनाव, टूटन, बिखराव आदि बढ़ गये हैं ।

स्वतंत्रता से उत्पन्न आशावादिता धीरे धीरे खतम हो गयी । समाज की मान्यताओं एवं धारणाओं में बदलाव आता गया । उसकी रीतियाँ नीतियाँ बदल रही है । उसके व्यवहार बदलते है । धर्म अपना आडंबर खो चुका है । बौद्धिकता बढ़ती जा रही है । भावनायें

ढहती जा रही है । नये और पुराने जीवन मूल्यों में संघर्ष- जीवन में सर्वत्र अनुशासन हीनता और मूल्यहीनता की सृष्टि हो रही है । प्राचीन मूल्य और परंपरायें विलुप्त हो गयी । पाप-पुण्य की व्याख्या परिस्थिति के अनुसार की गयी । वर्तमान युग की विशेषता तीव्रगति और प्रतिस्पर्धा की है । इसमें जो पिछड गया उसका अस्तित्व ही खतरे में पड जाता है ।

इन परिस्थितियों में आठवें दशक के उपन्यास का स्वरूप रूपायित होता है ।

नई सीमाओं और संभावनाओं का अन्वेषण

इस काल खण्ड में आपातकालीन घोषणा की गयी । यह घोषणा हमारे इतिहास की सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है जिसने सभी वर्गों को गहरा आघात दिया । यह एक ऐसा गंभीर संकट था जिसने व्यक्ति की सत्ता को ही इनकार कर दिया । इस समस्या को लेकर राही मासूम रजा का "कटरा बी आर्जू" प्रकाशित हुआ । इस उपन्यास ने समाज और व्यक्ति संबंधों के लेखन से विलग होकर राष्ट्रीय संकट को उजागर किया । इसने लेखन के सीमित परिवेश को एक व्यापक परिपार्श्व प्रदान किया ।

"आठवें दशक में उपन्यासकारों ने आधुनिक शहरी जीवन

की नीरसता, यांत्रिकता, जडता और निराशा पर ज़्यादा प्रकाश डाला है ।"[1] आधुनिक युग की युवा पीढी को भ्रष्टाचार, अनैतिकता, आर्थिक एवं सामाजिक वैषम्य, निराशा आदि कुण्ठाग्रस्त कर दिया है । साथ ही जीवन की यांत्रिकता ने उन्मुक्त यौन संबंध को बढावा दिया है । परिस्थितियों के कारण समाज में सांप्रदायिक और जातिगत भेद-भाव बढ गये है, धार्मिक बन्धन ढीले हो गये है, पारिवारिक और दांपत्य संबंध भी भावनाहीन और स्वार्थमय हो गये हैं । इस दशक में दाम्पत्य जीवन में अहं के अतिरिक्त पुरुष या स्त्री के अन्य स्त्री या पुरुष से संबंध के कारण भी दाम्पत्य जीवन विघटित हो रहा है । ये प्रवृत्तियाँ नाच्यौ बहुत गोपाल, चित्तकोबरा, अन्तराल, आप का बंटी आदि उपन्यासों में परिलक्षित होती है ।

"आठवें दशक में जो उपन्यास लिखे गये हैं उनमें प्रधानतः राजनीतिज्ञों की चरित्रहीनता, रिश्वतखोरी की आदत, भाई-भतीजावाद, नैतिक पतन आदि का स्पष्ट एवं व्यापक चित्रण किया गया है ।"[2] इस दृष्टि से "कटरा बी आर्जू," "महाभोज" आदि उल्लेखनीय हैं । "कटरा बी आर्जू" में लेखक ने इमरजेन्सी में सरकार द्वारा किये गये शोषणों का व्यापक एवं अति बीभत्स चित्रण किया है । महाभोज में आद्यन्त कथा के चयन में यह दिखाया गया है कि किस तरह से राजनैतिक स्वार्थ के लिए लोग घिनौने अपराधों को करने के लिए तैयार हो जाते हैं ।

---

1. डा. रजनीकान्त जैन - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 33
2. डा. रजनीकान्त जैन - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 96

इस दशक के उपन्यास भावना के अतिरेक से कटकर बौद्धिक दृष्टि को स्वीकारते है । "प्रतिबद्ध", "समय बीता हुआ" जैसे उपन्यास समाज के भीतर और बाहर चलनेवाले विविध संघर्षों को संप्रेषित करते हैं । आधुनिकता संत्रास अकेलेपन, निर्वासन जैसी स्थितियों से विलग होकर सामाजिक संघर्ष की गति और दिशा की पहचान इन उपन्यासों में है । इसलिए इस कालखण्ड की एक महत्वपूर्ण धारा इन उपन्यासों में मिलती है । इन उपन्यासों ने क्रांतिकारी परिस्थितियों की पहचान का प्रयास भी किया है । इस प्रयास के बावजूद इन उपन्यासों की अलग अलग सीमायें भी निर्धारित हो गयी है । इस दृष्टि से "प्रतिबद्ध" सन्तुलित कहा जा सकता है । समय बीता हुआ नारी देह की छटपटाहट को महत्व देकर क्रांतिकारी चेतना को भूल जाता है ।

आज़ादी के कुछ वर्षों के बाद ही भारतीय जीवन में गहरी पस्ती छा जाती है । इस दशक तक आते आते वह पस्ती अधिक गहरी हो गयी है । इसलिए इस दशक का लेखन पस्ती को समाप्त करने के लिए समस्त जीवन रोधी परिस्थितियों को खुला सा करने का प्रयास करता है । ऐसा खुलापन लेखन के लिए आवश्यक होता है कि वह सामाजिक जीवन को घेरनेवाले अवरोधों और राजनीति की सुविधाभोगी नियति को उसकी समस्त वास्तविकता में प्रस्तुत करे । इस दृष्टि से मुरदाघर, लाल पीली ज़मीन चित्तकोबरा जैसे उपन्यास उल्लेखनीय है ।

आठवें दशक में मानव का अत्यधिक नैतिक पतन हुआ है । आज का मानव आर्थिक विषमताओं के कारण कभी कभी अपनी पत्नी तक को

बेचता है, या भेंट करता है । मनुष्य कभी अपने आप को भी बेच देता है । अर्थात ईमान बेच देता है । नाच्यौ बहुत गोपाल, कटरी बी आर्जू, महाभोज आदि में इसी का चित्रण है । नाच्यौ बहुत गोपाल उपन्यास के आरंभ में ही लेखक ने एक मेहतर द्वारा उसकी अपनी असहाय स्थिति का वर्णन किया है । जहाँ मेहतर को अपनी नौकरी बनाये रखने के लिए हाकिम को अपनी बीवी तक भेंट करनी पडती है । कटरा बी आर्जू का शम्भू मियाँ भी अपनी दयनीय अवस्था के कारण ही गौरीशंकर पाण्डेय के हाथ बिक जाता है । लेखक कहते है - "आदमी मज़बूर हो तो बिक जाता है, पर अपने बिकने पर कभी खुश नहीं होता ।"[1]

आठवें दशक का उपन्यास उन सभी संभावनाओं की तलाश करता है जो इस दशक के जीवन की दृष्टि को रूपायित करती है । इस दशक की ज़िन्दगी का एक सत्य यह है कि आदमी आदर्शों को तिलांजली दे चुका है, क्रान्तिकारी नारेबाजी से तंग आ चुका है और राजनैतिक प्रयासों के माध्यम से स्थापित होनेवाले समाजवाद की बात को पूर्ण रूप से भूल चुका है । उसे मालूम हो गया है कि नारेबाजी, नेतागिरी का मुखौटा है । राजनैतिक दल स्वार्थ के अड्डे है । समाजवाद एक फंदा है । इन सब से बच निकलने के प्रयास में आठवें दशक का आदमी अपनी तलाश खुद करने लगता है । ये अन्वेषण कस्बों के स्तर पर होता है, शहरों के स्तर पर होता है, पति-पत्नी के स्तर पर होता है, राजनैतिक फूहडपन के स्तर पर होता है और मज़दूरों की विवशता के स्तर पर होता है ।

---

1. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्जू - पृ. 9।

वर्णित उपन्यासों के अतिरिक्त लिखे गये उपन्यासों में जीवन की समूची विसंगति की तस्वीर उभारी गयी है । जो एक बडी सीमा तक निराशाजनक है क्योंकि जैसे कि पहले कहा जा चुका है निष्क्रियता का जो बोध समाज को ग्रस्त है वह उसकी महत्वाकांक्षा पर वार करनेवाला होता है । एक ऐसे समाज की परिकल्पना जहाँ सब लोग सुखी होंगे, चैन और शान्ति के साथ जीवन बिता जायेंगे, जाति और धर्म के विष से मुक्त होंगे और स्वर्गीय आनन्द का भोग करेगी सब झूठा स्थापित हुआ है ।

धन दौलत के लालच के साथ भ्रष्टता को बढावा मिलता है और सांप्रदायिकता भाषावाद, क्षेत्रीयवाद आदि अखण्ड भारत की एकता की कल्पना को भी समाप्त करते है । यद्यपि विघटन की प्रवृत्तियाँ और आतंकवाद का चित्रण आठवें दशक के उपन्यास में कम हुआ है फिर भी उसकी संभावनाओं की ओर सूचित करनेवाले चित्र आंशिक रूप में मिल जाते हैं । देश और समाज को एक इकाई के रूप में देखने के लिए जब राजनेता तैयार नहीं होते तब इस विघटन की कहानी परोक्ष रूप में शुरू हो जाती है । आठवें दशक के उपन्यासकारों ने इन्हीं संभावनाओं को राजनीति के साथ जोडकर देखने का प्रयास किया है ।

वर्णित काल की रचनायें कई दृष्टियों से सीमाबद्धता की भी शिकार हुई है । अधिकांश रचनाओं की कथ्यात्मक स्थितियाँ सत्य से जुडती हुई भी पूर्ण रूप से यथार्थपूर्ण नहीं लगती । चुने हुए पात्र, चुनी हुई परिस्थितियाँ आदि आम जनता की मानसिकता से दूर पात्रों को ले जाती है ।

लगता है कि इन पात्रों की सर्जना और परिस्थितियों का चयन किसी पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम की पूर्ति के लिए रचनाकार के द्वारा आयोजित किया गया है । विशेषकर शहर की जिन्दगी का चित्रण करते समय और पति-पत्नी रिश्तों की यान्त्रिकता को उभारते समय उपन्यासकार अत्युक्तियों को प्रश्रय देते दिखाई पड़ते हैं ।

वर्ग संघर्ष के चित्र को उभारते समय मिल मालिकों और मज़दूरों के जिन्दगी के सही पक्षों को प्रस्तुत करने का प्रयास है । इसमें अतिरंजना कम दिखाई पड़ती । फिर भी उपन्यास को मनोरंजन बनाने के उद्देश्य से आंशिक रूप में सेक्स से जुड़ी हुई कहानी को भी कथा के समानान्तर रखा गया है जो कभी कभी उपन्यास की मूल चेतना पर हावी हो जाता है । राजनैतिक घाँधली के स्वरूप को प्रस्तुत करते समय लेखकीय मनोवृत्ति अधिक सक्षम होती दिखाई पड़ती है । राजनैतिक भ्रष्टता और उससे जन्म लेनेवाली विषाक्त स्थितियाँ उपन्यासों को अधिक स्वीकार्य बना देती है । उधर गंदी गलियों में जीनेवाली औरतें और जानवरों से भी गया गुज़रा जीवन बितानेवाले पुरुष महानगरों की काली छाया का स्वरूप उभारते है और मुरदाघर की बदबू को उभारकर रखते हैं । इन मुरदों के टीले में, गंदी बस्तियों में सिर्फ लफंगे और रंडियाँ होती है । जूठन चाटनेवाले कुत्ते होते है । पुलिस की लात मार से मरनेवाले कंकाल होते हैं । मनुष्य नहीं होते । आठवें दशक के उपन्यासों की रचनाधर्मिता इन्हीं सीमाबद्धताओं के बीच से होकर उभरी है ।

औपन्यासिक संकल्पनाओं में आये परिवर्तन

आठवें दशक के लेखन में एक स्पष्ट परिवर्तन यह लक्षित होता है कि पिछले दशकों की अंतरंग परिस्थितियाँ इस दशक में उपेक्षित की गयी है या फिर परिवेशगत यथार्थ से जुड़कर अधिक सार्थक हो गयी है । इसलिए यह कहना अधिक उचित है कि इस दशक के लेखन में थोडा परिवर्तन लक्षित होता है ।

"इस दशक के अधिकांश लेखक नयी रचनात्मक जीवन की तलाश की जिज्ञासा से भरे हुए है । इसलिए इस दशक को रचनात्मक अन्वेषण का दशक भी कहा जा सकता है । इस दशक के उपन्यासों में नये चिन्तन की झलक मिलती है । दर असल इस दशक के लेखन में नये चिन्तन अनुभव और परिवेशगत यथार्थ का समीकरण हुआ है ।"[1] आठवें दशक के लेखन अपने काल के आक्रोश, असन्तोष, परिवर्तनकामी इच्छा और परिस्थिति को आयत करता है ।

इस दशक के उपन्यास लेखकों ने नारी मन और उसके अस्तित्व को बदलती हुई परिस्थितियों से जोडकर देखा । इस दृष्टि से नारी पुरुष संबंधों का लेखन पूर्ववर्ती लेखन से स्पष्टतः प्रस्थान करता है । "आप का बंटी" "अन्तराल", "चित्तकोबरा" आदि महत्वपूर्ण उपन्यास है जिनमें नारी के बदलते हुए अनुभव संसार को देहगाथा के साथ प्रस्तुत किया है । चित्तकोबरा नारी की देहगाथा है और मनगाथा भी । इसमें सेक्स समस्या को नारी की दृष्टि से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । लेकिन इसमें भी शरीर सुख की दस्तक ही बार बार सुनायी पड़ती है ।

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास पूर्वोक्त - पृ. 2

पूर्ववर्ती दशकों की तरह इस दशक में भी राजनैतिक जीवन की विसंगतियों, अन्तर्द्वन्द्वों, असफलताओं और विचारहीनता पर उपन्यास लिखे गये है । लेकिन परिवेशगत जटिलता और तेज़ राजनैतिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया के कारण इस दशक के राजनैतिक उपन्यासों का तेवर अधिक स्पष्ट तथा तेवरपूर्ण हो गया है । "महाभोज" राजनैतिक जीवन के घिनौनेपन को व्यक्त करनेवाला उपन्यास है ।

"आठवें दशक में व्यक्तिवादी लेखन को तिरोहित करने की समग्र चेष्टा हुई है । अपनी इस प्रवृत्ति के कारण यह दशक अपने पूर्ववर्ती दशकों से स्पष्टतः प्रस्थान करता हुआ दीख पडता है ।"[1]

मूल्यहीन जीवन मूल्यों के कारण मनुष्य में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हुए हैं और उनके कारण व्यक्ति मन में क्षोभ एवं वेदना उत्पन्न हो रही है । इस दशक में मानव ने परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप नये जीवन मूल्यों को अपनाने का प्रयत्न भी किया है ।

चर्चित दशक के रचनाकारों की दृष्टि उपन्यास को एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रस्तुत करना चाहती है । इसलिए इसमें मनोरंजन और मनोरंजन से संबंधित तथ्यों का कम समर्थन हुआ है । लेखक अधिक

---

1. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - सं. डा. रामदरश मिश्र - पृ. 152

"सीरियस" बनने की कोशिश में लगता दिखाई पडता है । जिन विषयों को स्वीकारा गया है वे विषय समस्यामूलक न होकर समूचे जीवन की यथार्थता को परिवेश की विशिष्टता से जोडकर देखने की कोशिश में लगे हुए लगते है । दूसरे शब्दों में जीवन्तता की एक ऐसी तस्वीर लेखक उभारकर रखना चाहता है जो स्थितियों की, संकीर्णता को सही मायनों में प्रस्तुत करने में सक्षम है । समाज व्यक्ति और कार्यकलापों की रूपरेखा इसी स्थिति बोध से जुडकर प्रस्तुत होते हैं । इसी कारण कथ्यात्मकता में, पात्र चयन में, आविष्करण की शैली में पूर्वदशकों से भिन्न दिशा का संचालन दिखाई पडता है । पूर्व धारणाओं से मुक्त होकर रचनाकार कथानक और पात्र संकल्पना का नया आधार ढूँढता है । ऐसी स्थिति में पात्र रूपायन शैल्पिक प्रस्तुति और भाषात्मक प्रयोग पूर्व संकल्पना से मुक्त हो जाती है । कहीं कहीं ऐसा भी लगता है कि लेखक ने एक ऐसे विषय को चुना है जो उपन्यास के लिए सर्वथा योग्य नहीं है । यह इसलिए है कि नया लेखक उपन्यास के संबंध में और उसके शिल्प विधान के संबंध में, कथ्यात्मकता के साथ उसके संबंध के बारे में नई अवधारणा बनाना चाहता है । यह अवधारणा प्रयोगपरक भी है और वस्तुपरक भी है । शिथिल सत्य की खोज करके अनेक स्थितियों के बीच एकरूपता स्थापित करने की कोशिश में लेखक को अपनी ओर से भी कुछ करना पडता है । ऐसी हालत में पूर्ववर्ती मान्यतायें तिरस्कृत की जाती है । वस्तुतः इसलिए समीक्षकों का यह विचार है कि आठवें दशक का लेखक नई ज़मीन की तलाश नये ढंग से करना चाहते है ।

खासकर विषयों के प्रतिपादन में इसी प्रकार की अस्वतन्त्रता को मानने के लिए उपन्यासकार तैयार नहीं होता । इस तरह की अस्वतन्त्रता

को लेखन पर किये जानेवाला अत्याचार वह समझता है । इस कारण अपनी आज़ादी को वह सर्वोच्च सिद्ध करना चाहता है । महिला लेखिकाओं द्वारा आयामित कथानक कभी कभी अश्लीलता की सीमारेखाओं पर विहार करता है । रति को और देह ही भूख का चित्र मृदला गर्ग जैसे लेखिकाओं ने इतने उन्मुक्त ढंग से किया है कि वह कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा पर आ जाता है । ऐसा होने पर भी उसको अश्लील मानने के लिए लेखिका तैयार नहीं होती । प्रयोगात्मक दृष्टि से नयेपन को स्थापित करने का प्रयास भी इसके पीछे ढूँढा जा सकता है ।

कुल मिलाकर आठवें दशक की रचना धर्मिता, अधिक परिवर्तित दीखती है । औपन्यासिक संकल्पनाओं में आये हुए परिवर्तन नई दिशा के तलाश की सूचना भी प्रस्तुत करते है । कथ्य प्रतिपादन भाषा शैली, पात्र चयन, शिल्पगत प्रयोग आदि की दृष्टि से अनेक नवीनतायें ढूँढी जा सकती है ।

औपन्यासिक प्रयोगों के उदाहरण

पूर्ववर्ती दशकों से भिन्न आठवें दशक के उपन्यासकारों ने अनेक नवीन प्रयोग किये है याने इस युग की परिवर्तनशील परिस्थितियों में विकसित नई प्रवृत्तियों और सक्षम संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कथ्य पात्र, भाषा, शिल्प एवं शैली में नये प्रयोग हुए हैं ।

आपका बंटी में मन्नू भण्डारी ने माँ बाप के अलग हो जाने और दोनों अपनी अपनी जिन्दगी शुरू करने के बाद बच्चे बंटी की असहाय और दयनीय अवस्था का मार्मिक चित्रण इस प्रकार किया है । "अपने घर से उखडकर बंटी जैसे सभी जगह से उखड गया, क्लास में बैठा रहता है तो मन में घर तैरता रहता है ममी, अंमि, ममी का कमरा, कमरे का जादू और भी जाने क्या क्या । सब के बीच होकर भी जैसे वह सबसे कटा-छंटा अलग-थलग सब को देखता रहता है । और जब घर में होता है तो आँखों के आगे कभी स्कूल तैरता रहता है तो कभी अपना पुराना घर, अपना बगीचा, बगीचे का एक-एक पौधा और पौधे की एक एक पत्ती, फूफी, माली दादा ममी..... वहाँ वाली ममी ।"[1]

अनाथ बन जानेवाले बच्चे की मानसिकता को और उसके मन के भटकन को स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त भाषागत अभिव्यक्ति काफी हद तक प्रभावात्मक सिद्ध होती है । पूर्व उपन्यासों से अलग कथ्यात्मक परिवेश को उजागर करने के कारण इस प्रकार के भाषागत प्रयोगात्मकता आवश्यक सिद्ध होता है ।

पति के साथ असंतृप्त वैवाहिक जीवन बितानेवाली श्यामा, पति की मृत्यु के बाद कुमार के प्रति आकर्षित होती है । फिर भी अपने दिवंगत पति की स्मृतियों के जाल में भटकनेवाली श्यामा के विचित्र व्यक्तित्व का

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 143

उल्लेख मोहन राकेश ने अन्तराल में इस प्रकार किया है । श्यामा कहती है - "मैं नहीं जानती मैं अपने से क्या चाहती हूँ, अपने लिए क्या चाहती हूँ । प्यार ? लेकिन प्यार का अर्थ क्या है ? कुछ क्षणों के लिए किसी की साँसों से रुँध जाना, इतना ही ? मैं किसी के क्षण भर के आवेग का साधन बनकर रह जाऊँ, मेरा अहं उसे स्वीकार नहीं करता । मैं अपने लिये, प्यार के रूप में बहुत बड़ा कुछ चाहती हूँ । पर वह बड़ा कुछ क्या है, इसकी परिभाषा अपने को नहीं दे पाती । शायद मेरे अंदर कोई मानसिक ग्रन्थि है जिसका मुझे विश्लेषण कराना चाहिए । या शायद कोई और ही चीज़ है जिसकी चीर फाड़ होनी चाहिए यह सारा प्यार के नाम से होनेवाला कार्य व्यापार सारा नर और मादा धर्म..... यह सारी खोज और इसमें मिली विवृष्णा । क्या कुछ था कभी जो आज आकर चुक गया है, या कि कभी भी कुछ भी नहीं था । सिवाय अन्धे प्राकृतिक न्याय के और उसके आसपास बुने गए शब्द जाल के ? - मुझे नहीं लगता एक बार गृहस्थ जीवन के अनुभव से गुज़र लेने के बाद मैं उस अनुभव को अब अपने जीवन में कभी दोहरा सकती हूँ । किसी के साथ जी सकती हूँ शायद पर उसके साथ घर नहीं बसा सकती ।"[1] "तुम ने एक बार कहा था कि संबंधों को दिये गये सब नाम केवल सुविधा के लिए है वास्तविक संबंध इतने सूक्ष्म होते है, और व्यक्ति व्यक्ति के साथ इतने अलग कि उन्हें नाम दिये ही नहीं जा सकते । मैं तुम्हारे और अपने संबंध को बिना नाम दिये उसमें से सब कुछ पा लेना चाहती थी ।"[2]

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 100-101
2. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 215

संबंधों को किसी नाम से अभिहित कराना श्यामा जैसी सचेत नारी को स्वीकार्य नहीं । नारी चित्त की शंका को परंपरा और नवीन परिवेश दोनों के बीच नाप तौलने की कोशिश में उपर्युक्त उद्‌गारों की शब्दाभिव्यक्ति हुई । लगता है कि यह स्वयं नारी के आवेग को, शब्दों की सीमाओं को तोडकर बाहर आ रही है और नये अर्थ की खोज कर रही है । नारी मन की सूक्ष्म प्रतिक्रिया संबंधों के जटिल विश्लेषणों से उन्हें मुक्त कर देना चाहती है । असल में प्यार, पति-पत्नी संबंध, रिश्ते-नातों के आधार, सब को अलग अलग सीमा रेखाओं से बाँधकर रखना है । क्षणों की महत्ता को स्वीकारना इन संबंधों की विविधता को विविध आयामों से जोडने के लिए आवश्यक है । प्रेम हो क्यों न हो, कई क्षणों में किये जानेवाला प्रेम, कई प्रसंगों में रूप धारण करनेवाली शारीरिक प्रतिक्रिया, एक ही व्यक्ति द्वारा होने पर भी एक दूसरे से भिन्न है । अन्तराल का सत्य इसे सूचित करता है जो उपन्यास की अछूती धरती का परिचय देता है ।

"मुरदाघर" में अनेक आवारा लडकों का चित्रण है जो होटल के पीछे से जब जूठा खाना फेंका जाता है तब कुत्तों और कौवों के साथ उस पर झपटते है । इसका हृदयभेदक चित्रण जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने इस प्रकार किया है - "टाइम काफी हो गया । ताश वालों का जुआ रुका नहीं । थक कर बैठ गये छोटे छोकरे । कौवे नहीं दिखाई देते । कुत्ते ऊँघने लगे । मक्खियाँ भी सो गयी । चारों तरफ ठहर गया सब कुछ । अचानक खुल जाता है दरवाज़ा होटल के पीछे का । निकल आया छोकरा । हाथों में कनस्तर । भरा है लबालब । सब कुछ एक में । चावल..... रोटी पाव..... हड्डी.....दाल मच्छी.....

शोरबा..... आज का..... कल का । सडा हुआ..... बदबू । सब चौंक उठते हैं अचानक..... दौडने लगते है । मम्मद ! मम्मद ! आ गया रे वो । गोपू.... गोपू ! अन्ना ! सोन्या ! रामा..... ! जाग पडते हैं ऊँघते हुए कुत्ते भी दौड पडते हैं । कौवे भी आ जाते हैं.. चिल्लाते हैं । भिन-भिन उडने लगी मक्खियाँ । फेंक दिये ताश खेलनेवालों ने.... दौडने लगे । छोटे लडके मार रहे हैं पत्थर कुत्तों को हटते नहीं कुत्ते । उड उड कर वहीं बैठ जाते हैं कौवे । आ रहे हैं बडे छोकरे ताश वाले । छोटे भिड जाते हैं जल्दी जल्दी । कुत्ते.... फिर बढ आते हैं जल्दी । कौवे भी जुट जाते हैं । कुछ नहीं मिलता जल्दी में मम्मद ! कुछ मिला रे ? इधर कुछ भी नई । उधर ? उधर भी नई । .....हटाते जाओ जल्दी जल्दी । कुछ नहीं ।..... हाँ ! एक मच्छी आधी खाई हुई अचानक दिख जाती है । दौड पडते हैं सब । तेरी माँ की हट रे तू हट साला भेनचोद । ए उसको पकड तो । मैं ढूँढ के निकाला । हाथ नई लगाना गाँडू ! ऐसा मारेंगा ।"[1]

मुरदाघर की उपर्युक्त आलेखकरण शैली अपने आप में अनोखी लगती है । स्थिति को सशक्त ढंग से समझाते समय और चित्रोपम सूक्ष्मता को अपनाते समय लेखकीय भाषा तलवार की धार के समान नुकीली हो जाती है । टूटे कहे शब्द प्रतिक्रिया के सैकडों भावों को इस तरह प्रस्तुत करते है कि स्वयं पाठक भी उस दृश्य का भोक्ता होने लगता है । आठवें

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुरदाघर - पृ. 33

दशक के उपन्यासों में प्रस्तुत भाषा की नवीनता और प्रयोगात्मकता अनोखी ऊँचाइयों को स्पर्श करने लगती है ।

वर्ग संघर्ष को प्रस्तुत करनेवाला उपन्यास है - "प्रतिबद्ध" । इसमें एक मज़दूर दौलत अपने साथियों को संघर्ष की प्रेरणा देकर कहता है - "हमारी माँगें और हमारे अधिकार वे लोग अधिक देर तक नहीं ठुकरा सकते और वे लोग हमें अब अधिक देर तक बेवकूफ नहीं बना सकते । देखो भाई, हिम्मत रखने की बात है, और जोश से काम करने की बात है, वह दिन दूर नहीं होगा जब खेमचन्द जैसे लोगों को हम खदेड़ देंगे और तब सारी फैक्ट्री पर हमारी यूनियन हावी होगी और तब ही हम मालिकों से अपनी शर्तों पर न्याय की माँग करेंगे ।"[1] "समय बीता हुआ" में आशीष सिन्हा ने भी इसी तरह वर्ग संघर्ष का चित्रण किया है ।

"हमारी यह लड़ाई ताज़ और तख्त के लिए नहीं है । हम न तो मालिकों को लूटना चाहते हैं और न हो खामखा दंगा - फसाद भड़काना चाहते हैं । हम मेहनतकश मज़दूर दिन भर जानवरों की तरह खदान और कारखाने में खटते हैं अपनी मेहनत बेचते हैं, लेकिन हमारी मेहनत की जायज कीमत हमें नहीं मिलती । हमें जान बूझकर भूखा रखा जाता है, हमारी मेहनत चुराकर वे अपना खजाना भरते हैं और हमें कुचलने की योजना बनाते हैं ।"[2]

---

1. सतीश जमाली - प्रतिबद्ध - पृ. 30
2. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 107

पाप पुण्य की दूसरी व्याख्या आशीष सिन्हा ने "समय बीता हुआ" में सहगल नामक पात्र के माध्यम से किया है ।
सहगल का कथन है "दुनिया में पाप-पुण्य वगैरह कुछ होता ही नहीं है । कुछ मतलबी लोगों ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, जात-पांत, उचित-अनुचित का लबादा समाज पर चढाया है । हमें यह सब तोडना होगा, बदलना होगा - अपनी अपनी ज़रूरतों के मुताबिक ।"[1]

मज़दूरों और मालिकों के बीच के संघर्ष को प्रस्तुत करनेवाली उपर्युक्त पंक्तियाँ मज़दूरों के स्वप्नों को एक ओर प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर उनकी माँगों की मानवीयता का पक्ष भी उभारकर रखती है । यहाँ इस सीधी सादी शैली का प्रयोग हुआ है वह पात्रानुकूल प्रयोगधर्मिता का परिचायक है ।

"लाल पीली ज़मीन" में गोविन्द मिश्र ने आतंक फैलानेवाले सुरेश के स्वभाव का चित्रण एक स्थान पर इस प्रकार किया है ।
"माथा टेककर छवि उठ रही थी । सुरेश लपककर नीचे पहुँच गया और एक धक्का देकर छवि को मन्दिर के नीचे ले गया - करीब-करीब नारायण के ऊपर से । झटके में नारायण भी अन्दर की तरफ़ कल्था गया । सुरेश के चाकू का फल एक साँप की तरह निकला हुआ फुसफुसा रहा था । अंदर धँसकर उसने किवाड अपने पीछे से उड़काये और फिर चाकू के फल को चक्कर में लहराने लगा । "क्यों बे रंडी का औलाद" एक लात उसने नारायण को सामने की तरफ लगाई,

---

1. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 129

"मुझसे झूठ बोलता था....."

लड़खड़ाता हुआ नारायण मूर्तियों के ऊपर गिरते गिरते बचा । हल्की सी खनखनाहट हुई, नीचे की मूर्तियों के गिरने की । "अपने खसम से कहो, वह तुझे बचाए आज न हो, इसके बाप पंडित को बुलाओ ।"

सुरेश ने चाकू को छाती पर लाकर बीच से ब्लाउज़ को फाड़ डाला । छवि को पकड़कर नारायण के और अपने बीच किया । छवि की आँखों से आँसू लगातार बह रहे थे । वह चिल्ला भी नहीं सकती थी खड़ी रही, निश्चेष्ट.....

"तेरे गाल का खून पीने की कसम खाई थी चल इधर ।"

सुरेश ने अपनी तरफ खींचकर छवि को ज़ोर से पकड़ लिया । छवि उससे कद में कुछ बड़ी पड़ती थी, इसलिए चिपकता हुआ करीब करीब उस पर टंग गया । "इस नामर्द को बड़ा मज़ा देती रही, तेरा यह गाल और रंग..... कसम से पागल कर रखा था मुझे ।"

छवि चिल्लाने लगी ।

"चिल्लाने का नहीं है !"

"लगता है ।" छवि अपने हाथ से गाल सहलाते हुए बोली ।

सुरेश के दाँत के निशान छवि के एक गाल पर उभर आए थे ।

"अच्छा चल, तेरे लिए आसान कर देता है ।" सुरेश ने चाकू उठाकर एक नोक छवि के गाल पर चुभा दी .....खून की पतली धार चल निकली । सुरेश ने अपने मुँह से उसे चाट लिया । फिर नारायण को दिखा दिखाकर चाटता रहा ।

"कोई आ जायेगा.....।" छवि सिसक रही थी ।

"साली इज़्ज़तदार बनती है । सुरेश छिपकर कोई काम नहीं करता ।" और सुरेश ने भड़ से दरवाज़ा खोल दिया ।"

"चल हट ! नारायण, पंडित जूठन सुरेश के लिए नहीं है । वह ताज़ा चीज़ ही चखता है । समझी..... चल निकल बाहर ।"[1]

लाल पीली ज़मीन की उक्त पंक्तियाँ आविष्करण शैली की दृष्टि से ऐसा नयापन उभारकर रखती है जिसमें बलात्कार का कार्य सहज स्वाभाविक क्रियाकलाप के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । चाकू और छुरी का खेल, और गाल से खून निकालकर पीना बीभत्स और भयानक लगनेवाला दृश्य है । परन्तु उसका एहसास उसी भांति कराने की कोशिश न करके आतंक की छाया में उसको लेखक ने प्रस्तुत किया ।

नारी पर किये जानेवाले शोषण और उसकी असहाय स्थिति की सशक्त तस्वीर "नाच्यौ बहुत गोपाल" की नायिका निर्गुणिया प्रस्तुत करती है ।

निर्गुणिया कहती है - "औरत से बढकर कोई भी ज़ादा गुलाम नहीं है । मैं ने ब्राह्मण भी देखा, मेहत्तर भी देखा । मरद सब जगह एक है, साँसों सब एक हैं, सब जगह औरत की एक जैसी ही मिट्टी पलीत होती है, मैं ने दलितों की समस्या को दोहरे ढंग से भोगा है ।"[2] एक और स्थान पर निर्गुणिया कहती है - "मैं ने नसीब की मार से मेहतरानी बन के ये सीखा बाबूजी, कि दुनिया में दो पुराने गुलाम है - एक मंगी और दूसरी औरत । जब तक ये गुलाम हैं आज की आज़ादी रुपये में पूरे सौ के सौ नये पैसे भर झूठी है ।"[3]

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 227 - 228
2. अमृतलाल नागर- नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 113
3. अमृतलाल नागर- नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 343

यथार्थ को समाजगत स्थितियों के साथ जोडकर तथ्य का विश्लेषण करना यह उपर्युक्त कथन का लक्ष्य लगता है । पुरानी पीढी के लेखक होते हुए भी नागरजी ने एक सच्चाई का समसामयिक स्वरूप उभारा है जो नारी को और भंगी को एक ही तराजू पर तौलता है । न नारी का कोई खास अस्तित्व होता है न अछूत का । भारतीय परिवेश में यह आज भी एक पूर्ण सत्य है ।

सरकार द्वारा इमरजेन्सी के दौरान किये गये अत्याचारों का पर्दाफाश "कटरा बी आर्जू" में राही मासूम रजा ने देशराज के माध्यम से इस प्रकार किया है । "दो और सिपाहियों की मदद से जगदम्बा प्रसाद ने उसे नंगा किया । फिर वह लोग उस पर पिल पडे । ठोकरें, लातें, डण्डे । थोडी देर तक तो देश को दर्द का एहसास रहा । फिर दर्द का एहसास मिट गया..... बता दोगे तो और तकलीफ नहीं होगी । नहीं बताओगे तो बदन की एक एक हड्डी का सुर्मा बना दूँगा..... जगदम्बा प्रसाद ने उसे घसीटकर दूसरी दीवार पर दे मारा । और फिर तीनों सिपाही बडी मेहनत से "पूछताछ" करने लगे । उसे उलटा लटका दिया गया । उसके पाखाने की जगह में पिसी हुई लाल मिर्च भर दी गयी । उसे इलेक्ट्रिक के शॉक दिये गये पर उसे भी जिद आ गयी थी कि वह अपने दोस्त का पता नहीं बतायेगा । वह न जाने कितनी बार बेहोश हुआ और उसे न जाने कितनी बार होश आया । उसने गिनना भी छोड दिया था । वह सिर्फ यह खेल खेल रहा था कि यह शर्त लगाता अपने आप से कि ठोकर कहाँ पडेगी । या .....डण्डा कहाँ पडेगा । या सिगरेट कहाँ बुझायी जायेगी..... अब उसे यह सोचकर शर्म भी नहीं आती थी कि वह इतने लोगों के सामने नंगा है क्योंकि बदन तो था ही नहीं ।"[1]

---

1. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्जू - पृ. 180-182.

पुलिस के कुकर्मों और अमानवीय और क्रूर दण्ड विधानों का नग्न चित्र प्रस्तुत करते हुए रजा ने उपर्युक्त शब्दों में मानवीयता के प्रति किए जानेवाले नृशंस अपराध का पर्दाफाश किया है । सौ प्रतिशत सत्य लगनेवाला यह पीडा का, दण्ड विधान का बयान अब सौ फीसदी से भी कम सत्य का बन गया है क्योंकि आज के पुलिस के कुकर्म और दण्ड विधान इससे भी आगे बढ गये है । सत्ता द्वारा किये जानेवाले अन्याय के प्रति आक्रोश की अग्नि को उपर्युक्त वर्णन अपने अंदर छिपाये हुए है ।

मृदला गर्ग ने "चित्तकोबरा" में सेक्स का उन्मुक्त, विकृत, अतिरंजित और कुत्सित चित्रण किया है । सेक्स की उन्मुक्तता और उच्छृंखलता को दिखाते समय औपन्यासिक भाषा असाधारण सी होने लगती है ।

"अगर मेरा शरीर एक उरोज होता - एक दीर्घकाय, विशाल गुद गुदा उरोज । ग्लोब की तरह गोल । महेश उस पर पसर जाता । उसके हाथ पांव और ओंठ एक साथ उससे खेलते, उसे मसलाते, उसे चूमते । चूचुक को ओठों में दबोचकर वह हाथों से बाकी उरोज को मसलता और तब उसका निष्ठूर से निष्ठूर आघात भी वह सह लेता । आकार के साथ उसकी उत्तेजक शक्ति भी बढ जाती न ? महेश के हाथों की अंगुलियों के नीचे वह प्यानों की तरह बज उठता । उन्मत्त-विक्षिप्त संगीत से कमरा भर जाता मैं बस एक विशाल उरोज होती..... महेश के ओंठ मेरे ओठों से हटकर उरोज पर आ

जाते उसकी अंगुलियों का हाथ बंटाते । मुझ में चेतना का विस्फोट हो जाता है । मैं उन्माद से सिसकार उठती । मेरा उन्माद महेश को छू जाता । उसके ओंठ स्तनाग्र पर कस जाते, अंगुलियाँ उस विशाल उरोज को मथ डालने को क्रूर हो उठती और बहुत पहले वह मेरे भीतर प्रवेश कर जाता ।"[1]

केवल चुनाव जीतने और सत्ता प्राप्त करने के उद्देश्य से विपक्ष की कटु आलोचना करनेवाला सुकुल बाबू महाभोज में राजनैतिक घाँधली का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है । सुकुल बाबू का भाषण है - "आप लोग मरें या जियें, इन्हें तो चुनाव जीतना है - हर हालत में । और चुनाव जीतने के लिए गाँव के धनी किसानों के वोट भी चाहिए और पैसा भी । इसलिए अभी उनकी हर ज़्यादती पर, हर अन्याय पर परदा डाला जायेगा...

उन्हें बचाया जायेगा । इसलिए अच्छी तरह जान लीजिए कि इस हत्या के लिए कुछ नहीं होने जा रहा है । कौन करेगा ? पंचायत इनकी पुलिस इनकी, और अब तो विश्वास हो गया होगा आप को कि सरकार भी इन्हीं की है । तब कौन लडेगा आपकी लडाई ? आप को न्याय दिलाने के लिए आप का हक दिलाने के लिए कौन आयेगा ? गाँठ बाँध लीजिए कि यह सरकार आप लोगों के लिए कुछ नहीं करने जा रही । इसे लगाव आप से नहीं अपनी कुर्सियों से है और कुर्सियों का तकाजा यही है कि अभी ऐसी बातों को गोल मोल करके ही छोड दो । कुर्सी और इन्सानियत में बैर है । इन्सानियत की खाद पर ही कुर्सी के पाये अच्छी तरह जमते हैं ।"[2]

---

1. मृदला गर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 111-112
2. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 29

कुर्सी और इन्सानियत के बीच के संबंध को इससे बेहतर शब्दों में समझाना असंभव है । आठवें दशक की प्रयोगात्मक सफलता व्यक्ति सत्य से छालांग मार कर सामाजिक सत्य के आतंरिक पक्ष पर आ टिकती है । महाभोज का यही एक विशेष पहलू है ।

आठवें दशक के उपन्यासों से चुने हुए उपर्युक्त उदाहरण कथ्य की विविधता को स्पष्ट करते हुए भाषा एवं शैली में आये हुए प्रयोगों की परिवर्तनशीलता को भी पाठक के सामने प्रस्तुत करते है । प्रतिनिधि उपन्यासों में आये हुए ये वैविध्यात्मक चित्रण अपने आप में एक दस्तावेज़ है । जिनके आधार पर आठवें दशक की शैलीगत एवं शिल्पगत अभिव्यक्ति की झलक अधिक स्पष्ट होने लगती है ।

यथार्थ के प्रति जागरूक दृष्टि और काल्पनिक स्थितियों के प्रति विमुखता

पिछले दशकों की अपेक्षा यह दशक उपन्यास लेखन की दृष्टि से अधिक संपन्न है । "व्यक्ति के आत्मसंकट, सामाजिक परिवर्तन की स्थितियाँ, सत्ता और श्रम के संघर्ष तथा आम आदमी की ज़िन्दगी की पहचान में इस दशक के हिन्दी उपन्यास सर्वथा सफल है ।"[1] इस दशक का उपन्यास भूख से तड़पते इन्सान, व्यवस्था की मार से रौंदा हुआ युवा आक्रोश, माँ और बाप से अलग होकर रहने के लिए मज़बूर बालक, तथा अपनी

---

1. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष - सं. डा. रामदरश मिश्र - पृ. 152

अस्मिता की लडाई लडनेवाले युवा मानस के विभिन्न स्वरूप और उनकी चेष्टाओं की परख में बेहद ईमानदार है । इस दशक का लेखन जीवन का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत कर अपने लेखन की ईमानदारी और साहसिकता का परिचय देता है । उदाहरण के लिए "मुरदाघर" नामक उपन्यास में लेखक ने समाज के कठोर यथार्थ को, वेश्या जीवन के निर्मम यथार्थ को अपना कलात्मक स्पर्श देकर अधिक गहराई और तलख के साथ चित्रित किया है । "नाच्यौ बहुत गोपाल" में अमृतलाल नागर ने मेहतरों के जीवन का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत लिया है ।

केवल कलात्मक अवधान का लेखन ही वास्तविक स्थितियों को इनकारता है । "इस दशक का लेखन अनुभव के प्रामाणिक यथार्थ से नियोजित है । अत: वह सच्चाई और वास्तविकता को इनकार कर ज़िन्दा नहीं रह सकता ।"[1] इस संदर्भ में मुरदाघर, आप का बंटी, नाच्यौ बहुत गोपाल प्रतिबद्ध, लाल पीली ज़मीन जैसी रचनायें उल्लेखनीय हैं ।

स्त्री-पुरुष का संबंध केवल पारिवारिक अर्थ-चक्र का संबंध नहीं है । वह एक नैतिक और भावनात्मक सूत्र से भी कहीं न कहीं जुडा हुआ है । लेकिन इसके साथ ही यह भी एक सत्य है कि आज़ादी के बाद हमारे सामाजिक नैतिक जीवन में ऐसा संगीन संकट उपस्थित हो गया कि विवाह एक समझौते के रूप में लगभग फ्रीज़ हो गया । इन उपन्यासों ने व्यक्ति के फ्रीज़ होते हुए संबंध को अपना रचना में स्थान देकर कोई अपराध नहीं किया

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 2

बल्कि समाज और व्यक्ति के नये संबंधों को ठीक ठीक समझाने का प्रयास किया । इस दृष्टि से अन्तराल चित्तकोबरा आदि उल्लेखनीय हैं ।

पहली बार आठवें दशक के उपन्यासों के कथ्य बेहद गंभीरता और सचेष्टता के साथ भारतीय वास्तविकता को पहचानने की कोशिश कर रहे हैं । इस दृष्टि से समकालीन उपन्यास आज़ाद भारत की तमाम स्थितियों और अन्तर्विरोधों के दस्तावेज़ हैं । इनमें कुछ छोटे और कुछ बड़े है, कुछ केन्द्रिय और कुछ क्षेत्रीय है कुछ महानगरों की तरह जटिल हैं और कुछ मज़दूर ज़िन्दगियों की तरह सरल और संघटित हैं ।

प्रतिनिधि रचनायें

1. आपका बंटी (1971)

मन्नू भण्डारी का उपन्यास है आपका बंटी । इसमें मन्नू भण्डारी ने दाम्पत्य संबंधों के विघटन और भावी पीढी पर उसके प्रभावों को चित्रित किया है । माता पिता के अलग हो जाने और उनके अपने ढंग से व्यवस्थित हो जाने के बाद संतान को जिस मानसिक संघर्ष से गुज़रना पडता है, उसे मन्नू भण्डारी ने एक नवीन धरातल पर प्रस्तुत किया है । इस संघर्ष से गुज़रनेवाला इस उपन्यास का पात्र है बंटी । बंटी के माता-पिता शकुन और अजय आपसी तनाव से मुक्ति पाने के लिए तलाक ले लेते हैं और वह माँ के पास रहता है । माँ पुनर्विवाह कर लेती है और बंटी के लिए माँ के पास

रहना कठिन हो जाता है । वह पिता के यहाँ जाता है । वह सौतेली माँ के साथ समझौता नहीं कर पाता । बंटी होस्टल में रख दिया जाता है । बंटी के लिए एक घर में उसकी मम्मी है तो उसके पापा नहीं । दूसरे में पापा है तो मम्मी नहीं । इसलिए उसकी स्थिति वहाँ रहने में है जहाँ दोनों नहीं है । वास्तव में यह उस बेटे की त्रासदी है, जो आधुनिक परिवार में जन्म लेती है । ऐसी पारिस्थितियों से प्रभावित बच्चे की मनस्थितियों का चित्रण मन्नू भण्डारी ने बडी कुशलता के साथ किया है ।

2. अन्तराल (1972)

मोहन राकेश का तीसरा और अंतिम उपन्यास है अन्तराल । इस उपन्यास की कहानी अन्तराल शीर्षक के तीन मुख्य खंडों में विभाजित है । श्यामा इस उपन्यास की केन्द्रीय नारी पात्र है, जिसके जीवन में उसके पति देव का रिक्त कोष्ठ है । एक डेढ वर्ष का साथ देकर देव श्यामा को अकेला छोड संसार से बिदा लेता है । पति के न होने पर भी श्यामा उसकी स्मृतियों के जाल में भटकती रहती है । लेकिन ये स्मृतियाँ जीवन की अपूर्णता को लेकर हैं, पूर्णता और तृप्ति को लेकर नहीं । श्यामा और देव का दाम्पत्य जीवन असफल रहता है क्योंकि दोनों में प्यार नहीं था । इस अपूर्णता और अतृप्ति के फलस्वरूप श्यामा के मन में कुमार के प्रति आकर्षण पैदा होता है । वे दोनों एक दूसरे को चाहते हैं । लेकिन उनकी पूर्व जिन्दगी उनके बीच में दीवार की तरह खडी हो जाती है जिसे दोनों लांघ नहीं पाते । अंत में कुमार कुण्ठाग्रस्त होकर श्यामा पर बलात्कार करने की कोशिश भी करता है ।

लेकिन श्यामा कुमार के साथ एक आत्मीय संबंध चाहती है । शारीरिक संबंध कुछ नहीं है । उससे भी परे कुछ और संबंध है । उस कुछ और की खोज इस उपन्यास में है ।

अन्तराल मोहन राकेश की औपन्यासिक कृति है जो प्रेम की घोर मांसलता एवं यौन चेतना के परे के एक भावात्मक तीव्रता के आयाम को प्रस्तुत करती है । यह उपन्यास एक स्त्री और एक पुरुष के ऐसे संबंध की कहानी है जो नामहीन है ।

3. मुरदाघर (1974)

वेश्या जीवन और फुटपाथों की घृणित स्थिति पर लिखित जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास है मुरदाघर । मैना, हसीना, रोज़ी, मरियम, चमेली, सुभद्रा आदि अपनी पेट की आग को बुझाने के लिए अपना शरीर बेचने पर विवश हैं । पोपट, जब्बार जैसे पात्र भूख के कारण चोरी करने के लिए मज़बूर होते हैं ।

यह उपन्यास उन वेश्याओं के मर्म का दस्तावेज़ बन गया है, जिन के लिए शरीर बेचना चाहत नहीं है बल्कि विवशता है । वेश्या जीवन के कठोर यथार्थ को अधिक गहराई के साथ पहली बार इस उपन्यास में देखा गया है । ज़िन्दगी जीने का यह बहुत ही घटिया तरीका है फिर भी हमारी सामाजिक व्यवस्था के कारण समाज के एक बडे विभाग ऐसी ज़िन्दगी जीने

के लिए मज़बूर होता है । याने ज़िन्दा लाश बनकर मुरदाघर में निवास कर रहा है । प्रस्तुत उपन्यास इस व्यवस्था की समीक्षा करता है जो ज़िन्दा लाश पैदा करती है ।

भूख को मिटाने के लिए कुत्तों के साथ जूठन पर कूद पड़नेवाले बच्चे, पुलिस के निर्मम दण्डनीति से मृत्यु के घाट उतरनेवाले नर कंकाल और उनकी विवशता, जीवन की सारहीनता आदि की भी तस्वीर मुरदाघर में समानान्तर रूप से उभारकर रखी गयी है ।

यह उपन्यास अपने नाम के अनुरूप भयानक है, चौंकानेवाला है । भूख और गरीबी के कारण, आदमी की गिरावट का नग्न चित्रण बडे आक्रोश के साथ इसमें किया गया है । महानगर के जीवन की अभिशप्तता का दस्तावेज़ है प्रस्तुत उपन्यास ।

४. प्रतिबद्ध (1974)

प्रतिबद्ध सतीश जमाली का पहला उपन्यास है । इसमें फैक्ट्री मालिकों के शोषण और मज़दूरों की हड़ताल की कथा है । एक मिल में काम करनेवाले मज़दूरों की राजनैतिक चेतना के विविध स्वरूपों का अत्यन्त सफल चित्रण इस उपन्यास में हुआ है । यह उपन्याय औद्योगिक क्षेत्र में परंपरा से चले आ रहे अन्तर्विरोध को अत्यन्त सहजता और स्पष्टता से अभिव्यक्त करता है । उपन्यास की कथावस्तु दो वर्गों के बीच के टकराव से शुरू होती है

और उसका अन्त भी लगभग उसी स्थिति में होता है । परस्पर टकराव करनेवाले ये दोनों वर्ग हैं - शोषक शक्तियों के प्रतिनिधि मिल मैनेजर सेठ, साहब और उनके इशारों पर नाचनेवाले मज़दूरों का समूह और दूसरा वर्ग है - शोषण की जानलेवा स्थिति को समाप्त करने के उद्देश्य के प्रति समर्पित और प्रतिबद्ध हरिलाल और उसके क्रांतिकारी साथियों का । हरिलाल एक मज़बूत इरादे का कर्मचारी और मुंसिफ मिज़ाज मज़दूर लीडर है । इसकी पार्टी के कई इन्कलाबी मज़दूर - रामअौतार, शिवदयाल, सूरजा और बिशना इस मज़दूर आन्दोलन में शहीद हो चुके हैं । देविन्दरपाल हरिलाल के मज़दूर संगठन का दृढ़ स्तंभ है । फैक्टरियों के मालिक गरीब मज़दूरों की आवाज़ को कुचलने के लिए तरह तरह के हथकण्डे अपनाते हैं । मज़दूर संगठनों के सचिव फैक्ट्री मालिकों के खरीदे हुए गुलाम बन जाते हैं और मज़दूरों की हालत कभी नहीं सुधरती । उनकी माँगें कभी पूरी नहीं होती और मालिकों का शोषण एवं दमन चक्र और तेज़ हो जाता है । सतीश जमाली का यह उपन्यास मालिक-मज़दूर समस्या का वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करता है ।

5. लाल पीली ज़मीन

गोविन्द मिश्र का एक सामाजिक उपन्यास है लाल पीली ज़मीन । इस उपन्यास में कोई सुगठित कहानी नहीं है बल्कि घटनाओं तथा चरित्रों का विशद बिखराव है । गोविन्द मिश्र ने एक क्षेत्र या मुहल्ले खंदिया के जीवन, वहाँ की परिस्थितियों और वहाँ के लोगों की मानसिकता के संबंध में सविस्तार चित्रण किया है । खंदिया बुंदेलखण्ड के किसी शहर का कस्बा या मुहल्ला है । सारी बस्ती में आर्थिक पिछडापन और सांस्कृतिक विकास न हो पाने के कारण अगति और दुच्चेपन का वातावरण छाया हुआ है ।

केशव इस उपन्यास का नायक है । वह माँ और बहन के साथ रहता है । पिता बाहर नौकरी करता है । माँ तो मामा के साथ अवैध संबंध रखती है और चारों ओर इस बात को लेकर लोकापवाद भी है । बालक केशव दुर्बल और संवेदनशील है । उसकी लाचार कसैली चेतना के माध्यम से बस्ती के विकारों को देखा दिखाया गया है ।

पूरे उपन्यास में विवशता, आतंक और गहरी पस्ती व्याप्त है । सर्वत्र अनीति और अत्याचार का बोलबाला है । सार यह है कि कहीं कुछ अच्छा नहीं है । खंदिया बस्ती में जो घट रहा है, वह सब अगति और पतन का सूचक है । इसमें कहीं भी कुछ नवीन नहीं है । नष्ट हो जाना ही उनकी नियति है । गोविन्द मिश्र ने एक विशेष परिवेश के आधार पर इस उपन्यास के माध्यम से आज के निम्न मध्यवर्ग के समाज की जडता तथा गतिहीनत का वास्तविक चित्रण किया है ।

6. नाच्यौ बहुत गोपाल (1978)

नाच्यौ बहुत गोपाल अमृतलालनागर का उपन्यास है । इसमें उन्होंने भारतीय समाज में निकृष्टतम हेय और अस्पृश्य कहे जानेवाले मेहतर समुदाय के जीवन यथार्थ का मार्मिक चित्रण किया है । निर्गुणिया इस उपन्यास की नायिका है जो श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भंगी समाज का अंग बन चुकी है । अपने नाना-गृह की धार्मिक ब्राह्मण संस्कृति में पली निर्गुणिया विमातृ-गृह की भोगपरक परिस्थितियों में आती है । उसके बाल स्वभाव पर इस नई परिस्थिति का प्रभाव पडता है । अपनी भोगवादी इच्छा को

सन्तुष्ट करने के लिए वह एक युवक भंगी मोहना के साथ भाग जाती है और उसका साथ निबाहने के लिए ब्राह्मणी से मेहतरानी बनती है ।

निर्गुणिया की कहानी का आरंभ सन् 1930-31 के आसपास का है और अंशुधर शर्मा से साक्षात्कार सन् 1976 के आपातकाल में होता है । निर्गुणिया के भूतकाल की कथा और चरित्र वर्तमानकाल के इन्टरव्यू से विदित होता है ।

नाच्यौ बहुत गोपाल में उच्चवर्ग द्वारा मेहतरों के शोषण का चित्रण है । यह तो मेहतरों की समस्याओं का वास्तविक दस्तावेज़ है । मेहतर कहे जानेवाले लोगों की मानसिकता, जीवन और समस्याओं पर लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास है नाच्यौ बहुत गोपाल ।

7. समय बीता हुआ (1978)

आशीष सिन्हा का उपन्यास है समय बीता हुआ । इसमें उन्होंने श्रमिक संघटन की समस्या और श्रमिक शक्ति को निरन्तर आहत करनेवाली पूँजीवादी व्यवस्था की तस्वीर उभारी है । इस उपन्यास का नायक आनन्द वेल्फेयर अधिकारी है । व्यवस्था उसको अपने वश में करने के लिए अनेक गूढ़ मन्त्रों का आविष्कार करती है । लेकिन मज़दूरों की भलाई के लिए प्रतिबद्ध आनन्द व्यवस्था के हाथों की कठपुतली बनना नहीं चाहता । इसलिए आनन्द की नौकरी नष्ट हो जाती है और साथ ही साथ अमानवीय यातनाओं को

भी सहना पडता है । मज़दूरों की उन्नति के लिए, उनकी माँगों की पूर्ति के लिए कठिन प्रयत्न करनेवाले आनन्द को अंत में व्यवस्था के हाथों मरना पडता है ।

उपन्यास का दूसरा हिस्सा निशा की एकांतजीवी मानसिकता और व्यक्तिगत जीवन परिस्थिति से जुडा हुआ है । सुन्दर लडकी निशा के भीतर महत्त्वाकांक्षाओं का अम्बार है । लेकिन उसका ब्याह जितेन्द्र जैसे वृद्ध व्यक्ति से हो जाता है । इसलिए वह आनन्द के प्रति आकर्षित होती है । लेकिन वह परिस्थितिवश पडोसी सहगल के बलात्कार का शिकार बन जाती है । उपन्यास के इस हिस्से का प्रमुख घटनाओं से सीधे संबंध न होते हुए भी जीवन के एक समानान्तर पहलू को उभारने की कोशिश इसमें दिखाई पडती है ।

8. कटरा बी आर्ज़ू (1978)

आपातकालीन पृष्ठभूमि पर लिखा गया राही मासूम रजा का उपन्यास है "कटरा बी आर्ज़ू" । इसमें लेखक ने पूरी गहराई में जाकर आपातकाल की राष्ट्रीय संकट को देखने का प्रयास किया है ।

"कटरा बी आर्ज़ू" इलाहाबाद के एक छोटे से पिछडे हुए मुहल्ले "कटरा मीर बुलाकी" की कहानी है । कटरे में ज़्यादा निम्न

मध्यवर्गीय एवं मज़दूर लोगों के परिवार है । इनमें प्रमुख रूप से शम्सू मियाँ, भोलू पहलवान, बाबूराम"आज़ाद" आदि के परिवारों का चित्रण है जिनकी सहज ज़िन्दगी, स्वप्न और आकांक्षायें इमरजेन्सी के दौरान नष्ट भ्रष्ट हो जाती है । राही मासूम रजा ने इमरजेन्सी में सरकार द्वारा किये गये शोषणों का बीभत्स चित्रण भी किया है । सामाजिक और मानवीय संबंधों और मूल्यों की दृष्टि से संपन्न एक छोटा सा गरीब मुहल्ला इमरजेन्सी के दबाव में कैसे टूटकर बिखर जाता है इसका प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत करता है यह उपन्यास । सत्ताश्रित राजनीति की व्यापक विसंगति इमरजेन्सी की विसंगति बनकर रह जाती है । राजनीतिज्ञों की अवसरवादिता, स्वार्थलोलुपता आदि पर प्रकाश डालते हुए इमरजेन्सी की कुरूपता उद्घाटित करना लेखक का उद्देश्य है ।

9. चित्तकोबरा (1979)

मृदुलागर्ग का बहुचर्चित उपन्यास है "चित्तकोबरा" । उपन्यास की नायिका मनु विवाह के प्रारंभिक वर्षों में एक औसत भारतीय नारी की तरह अपने पति महेश और बच्चों के प्रति पूर्ण समर्पित और पूर्ण सुखी है । किन्तु उन दिनों महेश उससे दूर है और जब वह उससे प्यार करने लगता है तब तक बहुत देर हो जाती है । जमशेदपुर में नाटक के रिहर्सल के दौरान उसकी भेंट चर्च का पादरी रिचर्ड से हो जाती है । वह सुन्दर है, सजग है विवाहित भी है । मनु और रिचर्ड का संबंध प्रगाढ रूप धारण करता है और मनु उसके साथ शारीरिक संबंध भी स्थापित करती है । रिचर्ड विदेश चला जाता है, पत्र भेजता है या कभी कभी खुद भी आ जाता है । मनु के

मानस में वह सर्वदा वर्तमान रहता है । याने सेक्स आवेग की परितृप्ति के लिए मनु बेझिझक पति और प्रेमी के साथ उन्मुक्त संबंध स्थापित करती है ।

इस उपन्यास में मृदुला गर्ग ने प्रेमहीन सेक्स का चित्रण किया है और यह सेक्स चित्रण उन्माद और विकृत मनोवृत्ति से पीडित हो गया है । इसमें यह प्रश्न भी उठाया गया है कि क्या विवाहिता नारी का पर पुरुष से लगाव उचित है ? इस उपन्यास में लेखिका ने यह सत्य भी उद्घाटित किया है कि जब धरती के भीतर का लावा उबलने लगता है तो धरती की सीमायें उसे रोक नहीं पाती । यही स्थिति प्रेम की है । उपन्यास के सारे कथ्य की स्थितियाँ अतिरंजित सी है । क्योंकि नायिका की मनःस्थिति सेक्स ग्रंथि से पीडित रुग्ण नारी की है जो दो बच्चों की माँ बनने के बाद भी अपनी कामवासना को समेट नहीं पाती ।

10. महाभोज (1979)

महाभोज मन्नू भण्डारी का राजनीतिक वातावरण पर आधारित उपन्यास है । इसकी कथा गाँव सरोहा से संबंधित है, जहाँ जोरावरसिंह जैसे भूमिपतियों के निर्मम शोषण का शिकार हरिजन किसान एवं मज़दूर वर्ग निवास करता है । हरिजन युवक बिसू की निर्मम हत्या और उससे बननेवाले परिवेश की व्याख्या करता है यह उपन्यास । गाँव के उपचुनाव में दो विरोधी शक्तियाँ अपना प्रभुत्व बनाये रखने का प्रयास

करती है । एक ओर वर्तमान मुख्यमंत्री दा साहब का उम्मीदवार लखनसिंह और दूसरी तरफ़ भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुकुलबाबू । दोनों अपने अपने ढंग से बिसू की मौत से लाभ उठाते हैं । और चुनाव जीतने के लिए और सत्ता बनाये रखने के लिए तरह तरह के षड्यन्त्र रचते हैं । इसी के फलस्वरूप बिसू की हत्या आत्महत्या में बदल जाती है । निरपराधी बिन्दा गिरफ़्तार किया जाता है । ईमानदारी से रिपोर्ट तैयार करनेवाले एस.पी.सक्सेना को सस्पेन्शन आर्डर मिल जाता है । गलत रिपोर्ट तैयार करनेवाले डी.आई.जी. सिन्हा को आई.जी. बना दिया जाता है । अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले शिक्षामन्त्री त्रिलोचन सिंह को मन्त्रिमण्डल से बर्खास्त कर दिया जाता है ।

वोटों को प्राप्त करने के लिए और अपनी पार्टी को मज़बूत करने के लिए जो राजनैतिक धाँधली, आगजनी, हत्याकाण्ड आदि का आयोजन होता है उसी का दस्तावेज है महाभोज । इस प्रकार यह उपन्यास वर्तमान समाज में फैली भ्रष्टाचारिता राजनीतिज्ञों के चारित्रिक पतन स्वार्थ अर्थलोलुपता आदि का चित्रण प्रस्तुत करता है ।

तीसरा अध्याय

गति एवं स्थिति उपन्यासों में

तीसरा अध्याय

गति एवं स्थिति उपन्यासों में

आठवें दशक की रचना प्रक्रिया मूल रूप में पूर्व दशक से भिन्न दिखाई पडती है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जन्म लेनेवाला आक्रोश, असंतृप्ति की भावना, निराशा कुण्ठाग्रस्त मनोवृत्तियाँ आदि के प्रति लेखकीय दृष्टि परिवर्तित होती दिखाई पडती है । बीस वर्षों की आज़ादी के बाद स्थितियों के सहज अन्वेषण का और गति की दिशा का बोध रचना प्रक्रिया को नया मोड देते हुए प्रत्यक्ष होते हैं । इस कारण इस दशक के उपन्यासों में ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें जनजीवन की स्वाभाविकता के साथ साथ परिस्थितिवश उभरनेवाली प्रतिक्रिया का भी अंकन दिखाई पडता है । इसलिए कथ्यात्मक स्थितियाँ परिवर्तित होती नज़र आती हैं ।

इस गति और स्थिति के अन्वेषण में जिन दस उपन्यासों को प्रतिनिधि के रूप में स्वीकारा गया है उनके अध्ययन से पता चलता है कि रचना प्रक्रिया की गहराई में लेखकीय दृष्टि का परिवर्तित रूप विद्यमान है । ये उपन्यास यथार्थ के उन अनदेखे आयामों से जुडते हैं जिनका विशेष महत्व होता है । समाज, परंपरा, संघर्ष और यथार्थ के ऐसे नमूने प्रस्तुत किये गये हैं जो आम जनता के जीवन से कहीं न कहीं अवश्य जुडते हैं । नगर कस्बे और बस्तियाँ उस जीवन की तलाश के दायरों के अन्दर आ जाते हैं जिनके बारे में पूर्व लेखकों ने अनोखी दृष्टि के आधार पर सत्य के सही स्वरूप को अनदेखा कर दिया था । कथ्यात्मक स्थितियों के आधार पर उपर्युक्त कथन की सार्थकता का अन्वेषण किया जा सकता है ।

आठवें दशक के उपन्यासों का कथ्य

1. आपका बंटी

आपका बंटी मन्नू भण्डारी का सर्वप्रथम उपन्यास है । "इस उपन्यास में आधुनिक जीवन की विसंगतियों में मिसफिट होनेवाली नारी की वास्तविक स्थिति का बड़ा ही सम्यक चित्रण हुआ है । यह उपन्यास समकालीन भारतीय परिवेश में बँधी नारी और उसकी पारिवारिक स्थितियों से प्रभावित बच्चे की मनःस्थिति का सम्यक बोध करा पाता है । परिस्थिति के आततायीपन से ही मानव मन जटिल हो जाता है । इस मानसिक जटिलता की पहचान ही इस उपन्यास की केन्द्रीय एवं मुख्य समस्या है ।"[1] इस उपन्यास में एक विशेष परिस्थिति में पड़े हुए बच्चे की मनस्थिति का विस्तृत फलक पर चित्रांकन किया गया है ।

बंटी के माता पिता शकुन और अजय है । दोनों आधुनिक स्वतंत्र विचारधारा से प्रभावित है । दोनों अहं भावना से ग्रस्त है । शकुन और अजय कभी समझौता नहीं कर पाते हैं जिससे तनाव उत्पन्न हो जाता है । परिणामतः दोनों एक दूसरे से कटकर रहने लगते हैं । शकुन अजय को छोड़कर दिल्ली में बंटी के साथ रहने लगती है । जहाँ वह एक कालेज में प्रिंसीपल का दायित्व संभालती है । शकुन प्रिंसीपल के रूप में जितनी सख्त है उतनी ही बंटी की ममी के रूप में कोमल है । बंटी की पूरी देखभाल लालन-पालन सब शकुन ही करती है । अजय से

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 10

टूटने के बाद बंटी ही तो उसका एकमात्र सहारा बन जाता है । वह लगभग सात वर्षों से बंटी के साथ रहकर अपना जीवन व्यतीत करती है । अजय कलकत्ता से बंटी से मिलने अक्सर आया करता था, वह खिलौने आदि भी भेंट करता था, तथा घुमाने भी ले जाता था । यद्यपि बंटी को पापा अजय भी बहुत प्यार करते हैं, पर बंटी को ममी के साथ ही रहना पसंद है । बंटी ममी से दूर नहीं रह सकता, क्योंकि उसे ममी से बेहद प्यार है और ममी भी उसे बेहद प्यार करती है । ममी की उदासी बंटी को बहुत गहरे तक मथ जाती है । "ममी के चेहरे पर गहराती हुई उदासी की परतें उसे कहीं हल्के से बेचैन कर देती । उसका मन करता कि ममी को पक्की तरह समझा दे कि वह उन्हें कभी कभी नहीं छोड़ेगा ।"[1] वह चाहता है कि ममी पापा साथ साथ रहे । वह अपने ममी पापा की लड़ाई और तनाव को नहीं समझ पाता है । जैसे जैसे बंटी बड़ा होता जाता है उसे लगता है कि ममी पापा के बीच कहीं कुछ गड़बड़ है ।

शकुन की ज़िन्दगी में एक बहुत बड़ा तूफान आ जाता है । शकुन तो सात साल से पति से अलग रह रही थी लेकिन तलाक के लिए कागज़ों पर दस्तखत करते हुए उसे बिलकुल अकेले रह जाने का अहसास सताने लगता है । "एक अध्याय था, जिसे समाप्त होना था, और वह हो गया । दस वर्ष का यह विवाहित जीवन - एक अंधेरी सुरंग में चले जाने की अनुभूति से भिन्न नहीं था । आज जैसे एकाएक वह उसके अंतिम छोर पर आ गयी है । पर आ पहुँचने का संतोष भी तो नहीं है, ढकेल दिये जाने की विवश कचोट भर है । पर कैसा है यह छोर ? न प्रकाश, न वह खुलापन,

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 14

न मुक्ति का अहसास । लगता है जैसे इस सुरंग ने उसे एक दूसरी सुरंग के मुहाने पर छोड दिया है - फिर एक ओर यात्रा - वैसा ही अंधकार, वैसा ही अकेलापन ।"[1]

अजय अपना वैवाहिक जीवन मीरा के साथ शुरू करता है । वकील चाचा के माध्यम से बंटी को होस्टल भेजने का अजय का प्रस्ताव सुनकर शकुन एकदम बिफर उठती है । अजय का विचार है कि बंटी को होस्टल भेजने से बंटी समान आयुवाले मित्रों के साथ रह सके तथा ममी के अतिरिक्त भी कुछ सोच सके । शकुन वकील चाचा से पूछती है "बंटी को होस्टल भेजने की बात तो आपने कह दी, पर कभी यह भी सोचा है कि उसे होस्टल भेजकर मैं कितनी अकेली हो जाऊँगी ।"[2] अजय भी बंटी को अपने पास बुलाना चाहता है । पर शकुन उसे नहीं भेजती । वह निश्चय कर लेती है कि अब बंटी को अजय से मिलने भी नहीं देगी । इस निर्णय से उसे लगता है कि "बंटी केवल उसका बेटा ही नहीं है, वह हथियार भी है, जिससे वह अजय को टारचर कर सकती है, करेगी ।"[3]

लेकिन शकुन अपने निर्णय पर कायम नहीं रख सकी । शहर में अजय के आने पर बंटी स्वयं पापा के पास जाने के लिए मचलने लगता । वस्तुत: बंटी चाहता है "पापा भी साथ रहने लगे तो कितना मज़ा आये ।"[4]

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 37
2. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 39
3. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 44
4. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 49

लेकिन वह कुछ नहीं कह पाता । वह हमेशा पापा ममी में समझौता कराने की बात सोचता जाता है । "वह खींचकर पापा को अंदर ले जायेगा, और ममी का हाथ, पापा का हाथ मिला देगा- चलो कुट्टी खत्म । फिर ममी और वह मिलकर पापा को जाने ही नहीं देंगे ।"[1]

लेकिन वह पापा को रोक नहीं सका । यहाँ तक कि ममी पापा के बीच तलाक की कानूनी कार्रवाई भी पूरी हो गयी । शकुन ने बंटी से कहा "बस अब से तू मेरा बेटा है, केवल मेरा, भूल जा कि तेरे पापा ।"[2]

ममी-पापा के तलाक बंटी को संवेदनशील बना देता है । अब वह कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता जिससे ममी को ठेस पहुँचे, यहाँ तक कि वह पापा को याद नहीं करना चाहता । "अब वह उनके दिये हुए खिलौनों से नहीं खेलता । कभी उनकी बात भी नहीं करता ।..... रैक पर रखी हुई पापा की एकमात्र तस्वीर को भी उसने एक दिन चुपचाप उठाकर अल्मारी में बंद कर दिया ।"[3]

अजय से तलाक लेने के बाद शकुन भी अजय की तरह अपनी ज़िन्दगी को नया मोड देने का फैसला करती है । शकुन डा. जोशी से

---

1. मन्नू भण्डारी -आपका बंटी - पृ. 53
2. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 67
3. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 69

विवाह कर लेती है । डा.जोशी विधुर है तथा पहली पत्नी से उनके एक पुत्र अभि तथा पुत्री जोत हैं । लेकिन बंटी ममी के इस बदलाव से प्रसन्न नहीं होता । डा.जोशी को वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखता है । उसे लगता है कि "जब तक डा.जोशी इस घर में नहीं आये थे, ममी का हर काम, इस घर का हर काम बंटी के लिए ही होता था । अब सब कुछ डा.जोशी के लिए होने लगा है ।"[1]

शकुन की शादी से उसकी नौकरानी फूफी भी खुश नहीं । वह कह देती है - एक वचन दे दो कि हमारे बंटी भैया को जैसा आपने बिसरा दिया है आजकल वैसा और मत करना । बाप के रहते यह बिना बाप का हो रहा, अब माँ के रहते यह बिना माँ का न हो जाये ।"[2] फूफी के इस कथन से बंटी का पूरा भविष्य प्रतिबिंबित होता है । शकुन और बंटी को छोडकर फूफी चली गयी । शकुन बंटी को लेकर डा.जोशी की कोठी में आकर रहने लगती है । डॉक्टर के घर आकर बंटी को प्रसन्नता नहीं मिलती । उसे प्रतिपल लगता है कि ममी अब उसकी नहीं रह गयी है । शकुन चाहती है कि बंटी डॉक्टर को पापा कहे, क्योंकि डॉक्टर के बच्चे शकुन को ममी कहते हैं । लेकिन बंटी का उत्तर है "उनकी ममी मर गयी है इसलिए कहते हैं, मैं क्यों कहूँ ?"[3]

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 93
2. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 118
3. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 139

बंटी कोठी में आकर सब के बीच भी अकेलेपन महसूस करता है । क्योंकि उसका पूफी, माली, बाग बगीचे जिनसे उसका विशेष लगाव था वह सब पीछे ही छूट गये थे । बंटी का व्यवहार सभी के प्रति बिलकुल बदल जाता है । ममी को दुःख पहुँचाने में सुख की अनुभूति होती है और डा. जोशी के शब्दों में यहीं से वह थोडा "प्रोब्लम चाइल्ड" बन जाता है । बंटी अपने पापा को नहीं भुला पाता है तथा एकान्त में उन्हें पत्र भी लिखता है । पत्रों को पढकर तथा बंटी की मनस्थिति समझते हुए शकुन उसे उसके पापा के साथ कलकत्ता भेजने को राजी हो जाती है । शकुन अपनी नई गृहस्थी को बिगडना नहीं चाहती ।

अजय बंटी को कलकत्ता ले जाता है । बंटी वहाँ भी अपने को अकेला महसूस करता है, वह ममी के रूप में मीरा को नहीं अपना पाता । बंटी की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति अब और अधिक बढ जाती है । इसलिए अजय भी उसे होस्टल भेजने का फैसला करता है । ममी से तो वह पहले ही कट चुका होता है और यहाँ आकर वह पापा से भी कट जाता है । वह अकेला ही रह जाता है । यह आधुनिक जीवन की जटिलता का शाप है, जिसका उचित हल या कारण हमारे पास नहीं है ।

इस प्रकार माता पिता के अलग हो जाने और उनके अपने अपने ढंग से व्यवस्थित हो जाने के बाद दोनों की संतान को जिस मानसिक संघर्ष से गुज़रना पडता है, उसे मन्नू भण्डारी ने एक नवीन धरातल पर प्रस्तुत किया है । टूटते वैवाहिक संबन्धों में संवेदनशील बच्चे की दयनीय स्थिति एक विशिष्ट समस्या है जिसे हिन्दी में शायद पहली बार उठाया गया है ।

शकुन और अजय एक दाम्पत्य जीवन से ऊबकर अपने लिये नया दाम्पत्य जीवन खोज लेते हैं । वे एक परिवार की परिधि लांघकर दूसरे परिवार की परिधि में समा जाते हैं । किन्तु माता-पिता के जीवन में आये इस संक्रमण का वास्तविक संकट तो बंटी झेलता है । माता पिता के रहते हुए भी वह माता-पिता विहीन हो जाता है । उसकी नियति उसे होस्टल में पहुँचा देती है । इस प्रकार "बच्चे, पत्नी और पति तीनों की मानसिकता को चित्रित करते हुए बच्चे के जीवन की अनिश्चितता और उसकी ट्रेजेडी का अहसास उभार कर मन्नू भण्डारी ने सर्वप्रथम एक नया प्रश्न उठाया है ।"[1]

2. अन्तराल

मोहन राकेश का तीसरा उपन्यास है अन्तराल । "यह उपन्यास स्त्री पुरुष संबंध के बीच बने रहनेवाले अन्तराल और अनेक समस्याओं में उलझकर रह जाने की आंतरिक कहानी भी है । मूलत: यह मानव संबंधों की विवेचना का उपन्यास है ।"[2] उपन्यास का नायक या सूत्रधार कुमार बंबई के किसी विज्ञापन अभिकरण में काम करता है । इससे पहले वह एक कस्बे के कॉलिज में दर्शनशास्त्र का प्राध्यापक था । वहीं एक पार्टी में कुमार के सहकर्मी प्रो. मलहोत्रा उससे अपनी साली श्यामा का परिचय कराते है । श्यामा मंडी के एक हाई-स्कूल में प्रधानाध्यापिका है और दर्शनशास्त्र में एम. ए. करने के लिए छुट्टी लेकर आयी है । प्रो. मलहोत्रा कुमार से श्यामा को गाइडेंस देने का आग्रह भी प्रकट करते है । दूसरे दिन से श्यामा

---

1. उषा मंत्री - हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक सन्दर्भ - पृ. 233
2. डा. शरेशचन्द्र चुल्लीमठ - मोहन राकेश का साहित्य-समग्र मूल्यांकन - पृ. 1(

कुमार के घर पढने आने लगती है । श्यामा की पढाई के दौरान दोनों में जो अन्य बहुत सी बातें होती हैं उनसे कई कथा सूत्र भी जन्म लेते जाते हैं ।

कुमार से परिचय होते ही वह उसे अपने विधवा होने तक की बात बता देती है । देव श्यामा का दिवंगत पति है । श्यामा से शादी होने के दो साल बाद ही टाइफाइड में देव की मृत्यु हो जाती है । वह अपने विवाहित जीवन का चिह्न एक पुत्री (बेबी) श्यामा के पास छोड जाता है । श्यामा अपनी पुत्री के साथ घर से दूर अकेली रहकर नौकरी करती है ।

कुमार और श्यामा दोनों का अपना अतीत है । लता श्यामा से पूर्व की कुमार की प्रेमिका है । उसी कस्बे में जहाँ कुमार अध्यापक है लता वहाँ पढती थी तथा बाद में कुमार के प्रयत्नों से वह उसी के विभाग में प्राध्यापिका हो जाती है । कुमार को उसका व्यक्तित्व सम्मोहनीय लगता है और वह उस दुबले पतले शरीर को लेकर जीवन के भविष्य की कल्पना कर लेता है । लता शरीर और मन कुमार को सौंप देती है । फिर भी अपनी माँ का विरोध नहीं कर पाती । माँ के आगे उसकी एक नहीं चलती और एक इन्जीनियर से उसका विवाह हो जाता है । "मन से तुम्हारी ही रहूँगी, शरीर से किसी और की हूँ तो क्या" वाली उक्ति को दोहराती लता आज की नारी की मानसिक यन्त्रणा भोगती दिखाई देती है ।

किशोरावस्था में कालेज के प्रिंसिपल गोपालजी की ओर श्यामा का आकर्षण था । गोपालजी अंग्रेज़ी साहित्य बहुत अच्छा पढ़ाते हैं तथा श्यामा उनके प्रति अपने हृदय में एक आकर्षण महसूस करती है । लेकिन गोपालजी का एकाएक वासनाभिभूत होकर श्यामा पर टूट पड़ना उसके कोमल मन पर पहला आघात पहुँचाता है । युवती होते होते श्यामा अपना मन राजीव के चरणों में रख देती है । राजीव श्यामा का सहपाठी है । लेकिन वह तो श्यामा से प्रेम प्रदर्शन करके बाद में एक एम.पी. की बहिन से शादी कर लेता है । ये दोनों घटनायें श्यामा के मन में पुरुष जाति के प्रति वितृष्णा पैदा कर देती है । इसलिए श्यामा विवाह की पहली रात को ही पति का सहज सुख पाने में स्वयं को असमर्थ पाती है । देव को पति के रूप में पाकर भी वह केवल शारीरिक रिश्ता ही उससे बना पाती है । पति-पत्नी का आत्मीय सम्बन्ध वह डेढ़ वर्ष की अवधि में एक क्षण भी अनुभव नहीं कर पाती । इसी कशमकश में एक दिन देव उसे सदा के लिए तड़पता छोड़, संसार से विदा हो जाता है । श्यामा स्वयं अनुभव करती है - "मुझमें उसे वह नहीं मिला जो एक स्त्री से उसे चाहिए था । क्या चाहिए था यह मैं आज भी ठीक से नहीं सोच सकती । ब्याह से पहले उसने ज़िन्दगी देख रही थी, इसलिए स्त्री शरीर की भूख उसमें नहीं थी । फिर भी कोई भूख थी जो मुझसे नहीं मिट पायी । मैं ने ही पहले दिन से खुलकर अपने आप को उसे नहीं दिया उसके साथ संबंध को सहने का संबंध मानने की शुरूआत मेरी ओर से हुई थी ।"[1]

विधवा होने के बाद भी श्यामा के शरीर से यौन संवेग तिरोहित नहीं हो जाते । श्यामा तन को बाँध कर भी मन को

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 216

बाँधने में सर्वथा असमर्थ रहती है । कुमार के जीवन में लता को न पा सकने के कारण एक अभाव था । दोनों का अभाव भाव में बदल जाता है । लेकिन दोनों आपस में शारीरिक सम्बन्धों के अतिरिक्त और कुछ खोजते हैं । एक दिन खेतों में घूमने के बाद लौटते समय श्यामा कुमार के आलिंगन के प्रति विरक्ति प्रकट करती है । फिर दो दिन तक श्यामा कुमार के यहाँ नहीं आती । तीसरे दिन जब वह आती है और उस आलिंगन प्रकरण पर जब दोनों में बातें होती हैं तो जाहिर होता है कि श्यामा अभी भी अपने स्वर्गीय पति के प्रभाव से मुक्त नहीं है । अगले दिन श्यामा मंडी चली जाती है ।

अकेला मानसिक रूप से अशान्त और क्षुब्ध श्यामा विचारों में डूबी रहती है । अकेलेपन की पीडा से मुक्ति के लिए फिर से डायरी लिखना शुरू करती है । डायरी में वह प्रेम-भाव, देव, गृहस्थ जीवन तथा कुमार आदि के बारे में अपने विचार भाव व्यक्त करती है । घर पर बीजी (माँ), सीमा (छोटी बहन) तथा बेबी (पुत्री) के संबन्ध में आत्मीय अनात्मीय विचार करती हुई वह थककर रह जाती है ।

उसकी सास और ननद को केवल उसके पैसों से मतलब है । उसके अकेलेपन, सुख या दुःख से उनका कोई सरोकार नहीं । "उन्हें मेरे सुख दुःख से कोई मतलब नहीं है । मतलब है तो सिर्फ उन पैसे से जो हर महीने मैं उन्हें भेजती हूँ । पैसे वक्त से पहुँच जायें तो महीने के बाकी उनतीस दिन शायद उन्हें मेरी याद भी नहीं आती ।"[1] श्यामा यह समझते हुए भी उन्हीं लोगों के लिए मिटने खपने के लिए अभिशप्त है ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 73

सीमा देव की बहन और श्यामा की ननद है जो टेलिफोन एक्सचैंज में नौकरी करती है । सीमा घर में माँ-भाभी के साथ रहकर भी स्वतान्त्र जीवन जीने की हिमायती है । माँ का उस पर वश नहीं चलता । वह अपने पुरुष मित्रों के साथ मौज मज़ा करके शराब के नशे में आधी रात घर लौटती है । श्यामा उसके आचरण का विरोध करती है तो वह साफ कह देती है - "हम लोग एक दूसरी से डरती दबती हुई यहाँ रहें, यह बात निभनेवाली नहीं है । अगर साथ रहना है तो अपनी खातिर सब को रहना है । मेरी अपनी ज़िन्दगी है । मैं जिस तरह भी उसे जिऊँ तुम में से किसी का उसमें दखल मुझे बर्दाश्त नहीं होगा ।"[1]

कस्बे से श्यामा चली जाती है तो कुमार बंबई चला जाता है । इसी अन्तराल में श्यामा और बीजी के बीच पत्र व्यवहार से तय हुआ था कि पूना का घर बेचकर यदि बंबई में रहा जाय तो वह भी मंडी छोडकर उनके साथ रह सकती है और इसी हेतु श्यामा लंबी छुट्टी लेकर बंबई आती है । लेकिन यहाँ आकर वह पाती है बीजी और सीमा से एडजस्ट करना बहुत कठिन है ।

रंजू श्यामा के स्कूल में अध्यापिका है । रंजू एक अविवाहित सामान्य सी सीधी सादी लडकी है कि जिसे देखकर श्यामा सोचती है कि कुमार के साथ इसका विवाह करा दिया जाये और इसी हेतु वह एक बार कुमार को मंडी बुलाती भी है ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 165

एक दिन अचानक ही श्यामा बंबई में कुमार के दफ्तर पहुँच जाती है । दोनों दफ्तर से बाहर आते हैं और श्यामा अपने ही आग्रह से कुमार के घर जाती है । वहाँ चाय पर दोनों में आत्मीय वार्तालाप होता है जिससे श्यामा को जानकारी मिलती है कि इस बीच कुमार ने विवाह किया था । लेकिन छः महीने से अधिक संबंध नहीं जुड पाये । क्योंकि उस लडकी ने किसी पुरुष से धोखा खाने के कारण बदले की भावना में भर कर ही कुमार के साथ शादी की थी । काफी देर तक बातें करने के बाद जब श्यामा चलने को होती है तो कुमार उसे बलात प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और श्यामा बलात ही अपने को बचा लेती है और कथा अंततः समाप्त हो जाती है ।

मोहन राकेश ने आधुनिक दृष्टि से इस उपन्यास में आज के मानवीय जीवन की सहज स्थितियों, उसकी विडंबनाओं और आकांक्षाओं का वर्णन करते हुए आधुनिक मध्यवर्ग के स्त्री पुरुषों की स्थिति और नियति का चित्रण किया है जो एक विशिष्ट दायरे के अंदर सीमित हो जाता है ।

3. मुरदाघर

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास "मुरदाघर" मरे हुए जीवित इन्सानों की समस्याओं को व्यक्त करनेवाला हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । प्रस्तुत उपन्यास में बंबई के सामान्य जीवन से बँधी हुई झुग्गी-झोंपडियों को उनकी समग्र वास्तविकता में देखने का सफल प्रयास किया गया है ।

मुरदाघर उपन्यास झोंपड-पट्टियों और फुटपाथों पर ज़िन्दगी बसर करनेवालों की अत्यधिक निरीह और दर्दनाक कथा कहता है । कथा का रंगमंच देश का महानगर "मुम्बई" है । जहाँ एक ओर फूल के समान खिलती ज़िन्दगी है दूसरी ओर फुटपाथों की गलाजत भरी अभागी ज़िन्दगी । याने जहाँ एक ओर तथाकथित साफ दुनिया है, जहाँ सफेद रोशनी हर वक्त तैरती है, ठहाके गूँजते हैं तो दूसरी ओर अँधेरी गन्दी बस्तियाँ है, जहाँ बदबू है कचरा है, सुअर हैं और कुत्ते हैं - ड्राइवर, नौकर, रसोइए, टैक्सीवाले कुली आदि है । रंडियों के इन अड्डों पर कभी पुलिस के छापे पडते हैं तो कभी अनधिकृत रूप से बनायी गयी उनकी झोंपडियों पर अतिक्रमण और विरोधी दस्तों के प्रहार होते हैं । जुओं से भरे हुए केशोंवाली रंडिया दारू के गिलास गटकती है बीडी फूँकती है और उधारी चाय पीती है, जूठन खाती है । उपन्यास के प्रारंभ में इसी प्रकार का एक भयानक दृश्य प्रस्तुत किया गया है ।

मैनाबाई, पोपट और जब्बार उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं । मैनाबाई एक बीमार रंडी है । हड्डियों का काला ढाँचा । उसके एक छोकरा है राजू । पोपट उसका मर्द है जो स्वयं अपनी औरत से वेश्यावृत्ति करवाता है । मैनाबाई आक्रोश में कहती है - "क्या बोला था तू धन्दा करेगा और पेट भरेगा मेरा । अब धन्दा करती मैं और पेट भरती तेरा ।"[1] पोपट खुद कोई काम करना नहीं चाहता । लेकिन अपनी औरत से यही कहता है - "बोलता कि मैं अब तेरे कू ये धन्दा नई करने देऊगा ।"

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुरदाघर - पृ. 20

स्मगलर हाजी उमर पोपट के साथ एक टैम हवालात में था । स्मगलिंग का धन्धा करके पाँच साल के अन्दर लखपति बन गया । पोपट तो कुछ ऐसा ही सपना देखता है । मैना से कहता है - "छोटा छोटा धन्दा अपुन नई करेंगा । एकच धन्दा करेंगा और सब घाटा पूरा करेंगा ।" मैना से बस एक अवसर और माँगता है - "तू मेरे कू एक चानस दे ।" पोपट हमेशा स्वप्न में देखता है - हाजी सेठ मेरे कू बुलाया । पोलिस का बडा साब भी होता । उसे विश्वास है कि ये सपना झूठ नहीं होगा । "एक दिन मेरा टैम ज़रूर आयेगा .....ज़रूर आयेगा । दोइवाडा के पोलिस लॉकप से मैनाबाई को निकालकर लाने के बाद पोपट पाटी उठाने का काम करता है । लेकिन उसका कचूमर निकल जाता है । पुनः इतना शारीरिक श्रम करने की हिम्मत नहीं रखता । लाचार होकर चोरी करता है । बचकर भागते समय ट्रेन से कूदता है कि तत्काल दूसरी पटरी पर आती हुई ट्रेन से कट जाता है । उसकी लावारिस लाश मुरदाघर पहुँचा दी जाती है । मैना रोती झींकती मुरदाघर पहुँचती है । पर पोपट के क्रिया कर्म के लिए उसके पास कुछ नहीं है ।

उपन्यास का और एक प्रमुख पात्र है जब्बार । उसका भी छोटा सा परिवार है । औरत हसीना और एक पुत्र अमजद । जब्बार अमजद को बहुत प्यार करता है और अपनी औरत को रंडी बनाना नहीं चाहता । लेकिन परिवार का पेट उसे भरना है । अतः वह चोरी करने के लिए मज़बूर है । यह उसका धर्म है क्योंकि वह चोरी अपने पारिवारिक दायित्व का निर्वाह करने के लिए ही करता है । चोर जब्बार इन दिनों तडीपार है और उसे नगर से निकाला मिला है । भीमडी रोड पर एक झोंपडे में रहता है । औरत और लडके से मिलने आ नहीं सकता । लडके को

देखने के लिए छिपकर आता है । फरीदन की मदद से हसीना अपना और अपने लडके अमजद का पेट भर रही है । यह जानकर जब्बार स्तब्ध रह जाता है । कहता है - "ये लोक उसकू भी बना देंगी रंडी । हसीना कू रंडी नई बनने दऊँगा मैं ।"

परिवार चलाने में असमर्थ जब्बार असमंजस में पड जाता है । हताश जब्बार दौलत नामक रसोइए के सहयोग से एक तस्कर के यहाँ चोरी करता है । बच निकलकर जब अपनी औरत और लडके के साथ ट्रेन पकडने पहुँचता है तो प्लेटफार्म पर पुलिस द्वारा पहचान लिया जाता है और पकडा जाता है । पुलिस द्वारा अमानवीय यातना सहन करता है । फिर भी हसीना और अमजद का क्या होगा यह सोचकर चोरी की, इसे कबूल नहीं करता । हवालात में वह भी दम तोड देता है । मैना पोपट और जब्बार हसीना की गाथायें मुरदाघर में समानान्तर चलती है ।

उपन्यास में चित्रित अन्य प्रमुख औरतें हैं - बशीरन, नूरन, शांती, पारबती, रोज़ी, मंगला, जमीला, मरियम, चन्द्री, चमेली, नैना, सुभद्रा, गंगाबाई, जसोदा, नफीसा आदि जो बम्बई के फुटपाथों पर या काली रेतवाले जहाज़ों के इर्द-गिर्द या रेल की पटरियों के किनारे धन्धा करती भटकती दीखती हैं । वे अपनी पेट की आग को बुझाने के लिए अपना शरीर बेचने पर विवश हैं ।

बशीरन की बढ़ती उम्र है । थकता जिस्म है । निकट भविष्य में उसे कोई ग्राहक नहीं मिलेगा । बूढ़ी होती हुई ऐसी औरतों को पुलिसवाले भी नहीं पकड़ते । हवालात की रोटियाँ भी नसीब नहीं होती । अन्य पात्रों में रोज़ी है जिसे कोढ़ है । रोज़ी चाहती है - खाने को रोटी मिला तो बस । घाटी के एक छोकरे चन्दू से उसने संबन्ध इसलिए बनाये - अपना एक मर्द होना कहने के लिए । उसके साथ सबूत के लिए फोटो भी खिंचवाया । लेकिन चन्दू का कहीं पता नहीं ।

हवालात में बन्द अनेक भावुक और संजीदा औरतें हैं । सुभद्रा अपने चाहनेवाले को पोस्ट कार्ड भेजना चाहती है - जिसका कोई ठीक-ठाक डाक पता तक नहीं । रोटी के एवज में, भत्तेवाले से पोस्टकार्ड मंगवाती है । चमेली, जो होम के भ्रष्टाचार अनाचार की शिकार है, नकली भाई उसे खरीदकर ले गया । तारा, जो चोरी में पकड़ी गई है और मुम्बई सेंट्रल स्टेशन के कने झोंपड़-पट्टी में बाबू भाई को भत्तेवाले के द्वारा खबर पहुँचाने की कोशिश करती है । यह इस उम्मीद से वह करती है कि बाबू भाई जमानत देकर उसे हवालात से छुड़ा ले जायेगा । वह भी अपनी रोटी के एवज में भत्तेवाले से यह काम करवाती है । सुभद्रा की तरह तारा भी भूखी रह जाना पसंद करती है । लॉकप से बाहर निकलने के लिए । लेकिन दोनों छटपटाती रह जाती है । काठियावड़ के एक पैसेदार बाप की नवा छोकरी भी हवालात में है, जिसकी मुहब्बत झूठी निकली । भय से वापस घर जाना नहीं चाहती । वह भी हवालात से मुक्त नहीं हो पाती ।

चमेली बाई बीमार है । वह काफी कमज़ोर हो गयी है । उसका पूरा शरीर पीला पीला हो गया है जैसे कोई मुरदा हो । चमेली के पास दवा-दारू के लिए भी पैसा नहीं है । बशीरन और नूरन इस बीमार मुरदे को पैदल चलाकर आस्पताल ले जाती है । चन्द्रो एक ऐसी अभागी वेश्या है जिसे पुलिसवालों की बहुत मार सहनी पड़ती है । उपन्यास में बच्चा पैदा होने के कारण कुछ दिनों तक धन्धा करना कठिन है, यह सोचकर दुखिता मरियम का चित्रण भी है । इस प्रकार तमाम अभागिनों की बरबाद ज़िन्दगी का चित्रण मुरदाघर में देखी जा सकती है ।

उपन्यास में अनेक आवारा लड़कों का चित्रण है जो दो-दो बीड़ियों का जुआ खेलते हैं । होटल के पीछे से जब जूठा खाना फेंका जाता है तब वे कुत्तों और कौवों के साथ उस पर झपटते हैं । आपस में छीना झपटी होती है । अक्सर न हड्डी मिलती है, न पाव रोटी का छिलका । ये लड़के हैं - सत्तार, राजू, महादेव, मम्मद, गोपू, गनेश, सबकू आदि ।

इस प्रकार मुरदाघर में जीवित मुरदों की यथार्थ कथा अंकित है । लेखक ने समाज के कठोर यथार्थ को अपना कलात्मक स्पर्श देकर न केवल एक अछूते क्षेत्र का उद्घाटन किया है, बल्कि उपन्यास को निम्नतम वर्ग की जीवन स्थिति से जोड़कर अधिक ऐतिहासिक बना दिया है । "शरीर व्यापार से जीने की चेष्टा में लगी औरतें पेट की भूख से व्यथित लोग, चोरी करने को मज़बूर इन्सान, भीख माँगनेवाले बच्चे तथा व्यवस्था

के दोगलेपन से पीड़ित मानवता की बेकसी का इजहार करनेवाला यह उपन्यास अपनी सादगी और कलात्मकता में भी अनूठा है ।"[1]

4. प्रतिबद्ध

सतीश जमाली का पहला उपन्यास है "प्रतिबद्ध" । प्रस्तुत उपन्यास में सर्वहारा वर्ग के मज़दूरों की ज़िन्दगी और शोषक पूंजीपतियों की राक्षसी प्रवृत्ति का चित्रण है । इसमें एक मिल में काम करनेवाले मज़दूरों के माध्यम से औद्योगिक क्षेत्र में परंपरा से चले आ रहे अन्तर्विरोध को स्पष्टता के साथ व्यक्त करता है ।

उपन्यास की कथावस्तु दो वर्गों के बीच के टकराव से शुरू होती है । ये दोनों वर्ग है - यथास्थितिवादी शक्तियों के प्रतिनिधि मिल मैनेजर सेठ साहब और उनके इशारों पर चलनेवाले मज़दूरों का समूह - फैक्ट्री की वर्कस यूनियन का सेक्रेटरी खेमचन्द, बाद में उसकी जगह लेनेवाले ओमप्रकाश, प्रोडक्शन मैनेजर आनन्द, लेबर वेलफेयर आफीसर मि. निरूला सेक्योरिटी आफीसर मि. कोहली इसके अलावा ला-आफीसर, पर्सेनल आफीसर, इंडस्ट्रियल रिलेशन्स आफीसर, एकाउंट्स आफीसर आदि सभी लोग इस वर्ग के प्रतिनिधि है । दूसरा वर्ग है - औद्योगिक क्षेत्र में परंपरा से चले आ रहे अन्तर्विरोध और शोषण को समाप्त करने के उद्देश्य के प्रति

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 36

समर्पित और प्रतिबद्ध हरिलाल और उसके क्रान्तिकारी साथियों का । वे हैं - हाशिम, जोगीलाल, देविन्दरपाल, मंगिराम, दुलो दौलत आदि ।

फैक्ट्री के एडमिनिस्ट्रेशन बिल्डिंग के सामने सूरजावाली पार्टी के गेट मीटिंग के समय जो दुर्घटना हुई उसी से लेकर उपन्यास का प्रारंभ होता है । इस दुर्घटना में सूरजावाली पार्टी के चार वर्कर लोगों की मृत्यु होती है । वे हैं स्मिथी शाप के शिबदयाल और बिशना, ग्राइंडिंग सेक्शन का रामौचतार और ट्यूबलर शाप का सूरजा । इसके पीछे फैक्ट्री मैनेजर सेठ और फैक्ट्री की वर्कस यूनियन के सेक्रेट्री खेमचन्द का हाथ है । इसके बारे में स्वयं खेमचन्द सेठ से कहता है - "होना क्या था, जैसा प्रोग्राम था वैसे ही ठीक-ठाक हो गया । ज्योंही वे लोग हमला करके लौटे, ट्रक उनके लिए तैयार खडा था, और वह उन्हें लेकर दिल्ली चला गया ।"[1] इसके लिए सेठजी खेमचन्द को इनाम के रूप में पाँच हज़ार रुपया और उसके साथियों को तीन सौ रुपया देता है ।

हरिलाल और उसके साथी रात के समय करमसिंह के कमरे में मिलकर गुप्त रूप में इस दुर्घटना के बारे में सोच विचार करते हैं । वे इस उचित अवसर से फायदा उठाकर मालिकों और खेमचन्दवाली यूनियन के विरुद्ध फैक्ट्री के अन्य वर्करों से मिलकर प्रचार करने का निश्चय करते हैं । पार्टी का प्रधान हरिलाल है । लेकिन गुप्त रूप से पार्टी की असली बाग्डोर

---

1. सतीश जमाली - प्रतिबद्ध - पृ. 20-21

देविन्दरपाल के हाथों में है । याने किस दिन क्या बात कहनी है या नहीं कहनी है, आगे कौन सा कदम उठाना है या क्या एक्शन लेना है इसके बारे में पहले देविन्दरलाल से सलाह मशविरा किया जाता है और फिर बाद में उसको कार्रवाई की पूरी रिपोर्ट हरिलाल देता है । इस प्रकार देविन्दरपाल के कहने के अनुसार ही गुप्त रूप से हरिलाल मीटिंग का आयोजन करता है और मिलकर काम करने का फैसला भी लेता है । लेकिन इसके विरुद्ध दूसरे दिन मांगिराम खेमचन्द का वध करता है । इसके बारे में देविन्दरपाल की पहली प्रतिक्रिया है - "गलत साथियों के कारण कई बार सब कुछ नष्ट हो जाता है । मांगिराम को अब कमेटी में नहीं रहना चाहिए । तुम यह समझ लो कि मांगिराम की इस कार्रवाई ने तुम लोगों की कोशिशों को बहुत पीछे धकेल दिया है ।"[1] मांगिराम की इस हरकत से पार्टी के शेष सब नाराज़ हो जाते हैं । इस कत्ल के सिलसिले में जोगीलाल हरिलाल, मांगिराम, हाशिम और उनके तीन साथियों को गिरफ्तार किया जाता है । बहुत अधिक सख्ती और मारपीट के बाद मांगिराम अपने लिखित बयान में अपने को खेमचन्द का खूनी स्वीकार करता है । मांगिराम के इस बयान के बाद हरिलाल और उसके साथियों को छोड दिया जाता है ।

थाने से छूटकर आने के बाद भी हरिलाल और उसके साथियों को ओम प्रकाश के आदमियों से बहुत अधिक कष्ट सहना पडता है । हरिलाल को शहर के एक कोने में अकेले घेरकर उसकी खूब पिटाई की जाती है और इससे उसकी एक बाँह कुहनी तक काट देनी पडती है । फिर भी

---

1. सतीश जमाली - प्रतिबद्ध - पृ. 61

ओमप्रकाश और उसके साथियों में से किसी को भी गिरफ्तार नहीं किया जाता । बल्कि हरिलाल के बहुत अच्छे तीस पैंतीस साथियों को अलग अलग बहानों और कारणों से फैक्ट्री से निकाल दिया जाता है । जिनके स्थानों पर तुरन्त ओमप्रकाश के आदमियों की नियुक्ति कर दी जाती है । फैक्ट्री मालिकों के इस आतंक का तुरन्त - परिणाम यह होता है कि हरिलाल के बहुत सारे साथी अपनी जगह बदलकर ओमप्रकाशवाली यूनियन के साथ हो जाते हैं । हरिलाल अपनी पार्टी के इस प्रकार टूटने और कमज़ोर हो जाने से दुःखित हो जाता है । फिर भी एकता स्थापित करने के लिए वह निरन्तर कोशिश करता रहता है ।

पूंजीपति वर्ग सदैव औद्योगिक मज़दूर वर्ग की एकता में दरारें पैदा करने की कोशिश करता है । उनके संगठन में अपने पालतू व्यक्तियों को शामिल कर उनकी एकता को खंडित करने का प्रयास करता है । जागरूक मज़दूर वर्ग एक ओर जहाँ अपनी एकता को बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील होता है, कहां दूसरी ओर उसे अपनी संघटन शक्ति की कीमत भी चुकानी पडती है । औद्योगिक मज़दूरवर्ग का वर्गीय राजनीति के बीच के इसी सनातन अन्तर्विरोध की सशक्त अभिव्यक्ति सतीश जमाली के इस उपन्यास में है ।

5. लाल पीली ज़मीन

लाल पीली ज़मीन गोविन्द मिश्र का तीसरा उपन्यास है । यह उपन्यास समसामयिक युवा वर्ग में व्याप्त हिंसा और काम कुंठा के गहरे कारणों की पडताल करता है । इस उपन्यास में चित्रित बस्ती न

पूरी तरह से ग्रामीण है, न पूरी तरह से शहरी है और एक अजीब कस्बाई मनोवृत्ति का प्रतीक है जो सारे देश में व्याप्त है ।

"यह उपन्यास खोखले, जर्जर होते, टूटते पारिवारिक संबंधों, निम्न मध्यवर्ग के लडकियों की उदास, अन्याय से जकड़ी निराशा और आत्महत्या की ओर बढ़ती ज़िन्दगियों और शरीर की ताकत तथा दुस्साहस न बटोर पानेवाले लडकों के गहन अवसाद, हताशा और जडता का प्रभावशाली चित्रण करता है ।"[1]

"लाल पीली ज़मीन" में एक परिवेश अपनी समग्रता के साथ चित्रित हुआ है । इसलिए उपन्यास में बहुत अधिक पात्रों का वर्णन है जिनमें युवा छात्र, किसान पंडित, खेतिहर मज़दूर अध्यापक आदि सभी तरह के लोग हैं । हमारी मुलाकात इतने अधिक पात्रों से होती है कि उनसे आत्मीयता स्थापित करना कठिन हो जाता है और उनसे ठीक परिचय भी नहीं हो पाता ।

केशव एक साधारण लडका है जो स्कूल में पढता है । घर में माँ और बहन है और पिता बाहर नौकरी करता है । लाल पीली ज़मीन की मिट्टी में पैदा होनेवाले हर बच्चे के मन में भय की सर्वाधिक काली छाया मँडराती रहती है । केशव के जीवन का आरंभ भी इसी भाव से होता है ।

---

1. गोविन्द मिश्र - सृजन के आयाम सं. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर - पृ. 88

"केशव को बार बार लग रहा था कि यही वह आदमी है जो शाम होते ही पहाड पर पत्थर बनकर चिपक जाता है । दिन भर इस मुहल्ले पर भूत की तरह मँडराता रहता होगा ।"[1] आगे केशव की मनस्थिति इस प्रकार है "पीछे भूत..... तेंदुआ..... इस तरफ थल्ले राक्षस सामने राजघर के मकान के ऊपरी हिस्से पर उठ उठकर खडी होती ठठरियाँ लिपटे हुए मुर्दे एक के बाद एक और एकदम सामने वह रखैला पत्थर, जिसने अब अपना रंग भी बदल लिया था..... केशव को लगा, वे सब चारों तरफ से उसे जकडने के लिए बढ रहे है ।"[2]

इस भय के साथ केशव को घर में भी सुरक्षा या अपनत्व नहीं मिलता क्योंकि घर में तो मामा के साथ अविहित संबंध रखनेवाली माँ है । अपनी माँ के व्यभिचार को वह मित्रों से सुनता है और साथ ही साथ अपनी खुली आँखों से देखता भी है । केशव को माता और मामा के संबंधों का पता चलता है तो उसे लगता है कि घर की चार दीवारी ढह गयी है और केशव खुले मैदान में खडा है । ऐसी स्थिति में वह पढाई से विमुख हो जाता है ।

पिता का कठोर व्यवहार उसके बाल मन को अधिक भयचकित बना देता है । छोटी छोटी बातों को लेकर पिता उसकी अच्छी पिटाई कर देता है । अब्दुल के घर जाने की वजह से केशव पिट जाता है ।

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 19
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 21-22

अतः सामाजिक और पारिवारिक परिवेश के प्रभाव से उसका मन कुण्ठित होने लगता है । इसका परिणाम यह होता है कि उसका परिवर्तनकामी मन विपरीत परिस्थिति के साथ संघर्ष नहीं कर पाता । धीरे धीरे वह परिस्थिति से समझौता करता हुआ शिथिल सा हो जाता है ।

उपन्यास में लडकों का पूरा जीवन, उनका खेलना, घूमना और लडना-झगडना सभी का चित्रण है । मैदान में, गली में, मुहल्ले में, मंदिर में और स्कूल में सर्वत्र उनकी फालतू ज़िन्दगी चलती है । केशव, कल्लू, शिवमंगल, सुरेश, शिवराम, कैलाश जैसे लडके वही खेल खेलते हैं जो अभावग्रस्त जीवन में बिना किसी साधन सामग्री से खेले जा सकते हैं । चिंया, गुल्ली-डंडा, लुकाछिपी, दंड-बैठक, कुश्ती आदि । पशुओं की नार के पीछे गिरते गोबर को पकडने के खेल में भी रस लेते हैं ।

केशव बचपन में बिट्टी से प्रेम करता है । इकतरफा और नासमझी से । मालती और छवि की ओर भी आकर्षित होता है, लेकिन यह भावनात्मक दृष्टि से जुडने की आवश्यकता का परिणाम है । वह सही प्रेम जवानी में उमा से करता है । लेकिन शादी के बाह्य साँचे में फिट बिठाया जाता है और उसे बाँध दिया जाता है एक अदद पत्नी से, जिससे वह कभी नहीं जुड पाता । उपन्यास का आरंभ भी इस अत्याचारी अमानवीय स्थिति से होता है । "मैं यहाँ हूँ । मकान के किसी कोने में अपनी जगह ढूँढता हुआ । कुछ दिमाग में ऐसा धँस गया है कि पहचान ऐसे ही किसी कोने में मिलेगी

इसलिए भागता रहा हूँ अब तक । एक कोने से दूसरे कोने तक..... मैं बारी बारी से हर कोने में अपने को फिट करते देखता हुआ भटक रहा हूँ अब तक ।"[1]

लड़कियों को जवानी प्राप्त होने के पहले ही घर की चहारदीवारी में कैद किया जाता है या विवाह की बेड़ियों में विकास के पहले ही उन्हें बाँध दिया जाता है । क्योंकि "वहाँ इतने साँड फिरते रहते थे कि आम आदमी अपनी लड़की तेरह चौदह में ही ब्याहकर पबार देने की सोचता था ।"[2]

स्त्री जीवन की भयानक नियति शांती, मालती, छवि, शैलजा आदि के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है । शांती बड़े से प्रेम करती है । वह इस संबंध को असंगत या समाज विरुद्ध नहीं मानती । वह इस स्वतंत्र चुनाव को आवश्यक मानती है । वह कहती है "एक बार दिन के उजाले में तुम्हारे हाथ में हाथ डाले हर गली से गुज़रना चाहती हूँ इस मुहल्ले की । मर जायेंगे कमबख्त सब के सब बूढ़े-बड़े, लुच्चे लपाड़ी ।"[3] लेकिन इस प्रकार वीरता दिखानेवाली शांती को गंदे वयस्क, लंगोट धारी पंडित की वासना का शिकार होना पड़ता है । पंडित के बलात्कार के परिणामस्वरूप मानसिक यातना की शिकार बनकर वह इस दुनिया से चल बसती है ।

---

1. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 10
2. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 70
3. गोविन्द मिश्र - लाल पीली ज़मीन - पृ. 129

छवि और नारायण दोनों परस्पर आकृष्ट है । लेकिन "सुरेश टैक्स" वसूल करके शहर में आतंक फैलानेवाले और अपनी वासना पूर्ति के लिए लडकियों को फँसानेवाले सुरेश मंदिर में छवि को क्रूरतापूर्वक बलात्कार कर देता है । मालती अधेड उम्र के सर्वेश की चौथी पत्नी बनकर दुविधा में ज़िन्दगी गुज़ारती है । शैलजा कैलाश से प्रेम करती है । लेकिन उसको भगाने में कल्लू सफल हो जाता है । उपन्यास में मास्टर कंठी, मास्टर कौशल जैसे एक दो कर्तव्यपरायण और ईमानदार पात्रों का भी चित्रण है । शिवमंगल परीक्षा में नकल करता है और उसकी मनाई करनेवाले मास्टर कंठी की हत्या करता है । इस प्रकार पंडित, सुरेश, कल्लू शिवमंगल जैसे पात्र सामाजिक परिवेश को विवशता से भर देते हैं ।

केशव इस उपन्यास की समूची घटना का साक्षी है । गाँव से भागकर शिक्षा और सुरक्षा के सन्दर्भ में वह अपनी माता और पिता के साथ नगर की इस खेदिया बस्ती में आता है । यहाँ उसका पूरा परिवार नैतिक गिरावट की चपेट में आ जाता है और अन्त में नगर की ज़िन्दगी से तंग आकर गाँव भाग जाने का फैसला कर लेता है ।

इस प्रकार लाल पीली ज़मीन में गोविन्द मिश्र ने छोटे शहरों की ज़िन्दगी के अनेक प्रमुख पहलुओं को उभारा है जो भय और आतंक से प्रभावित है । गरीबी, अशिक्षा और व्यवस्था का अभाव, पुलिस की नाकामयाबी, असुरक्षा की स्थिति, लडकियों के प्रति अत्याचार और नैतिक दृष्टि का अभाव आदि कई ऐसे मुद्दे हैं जिन पर उपन्यासकार अपनी सर्जना शक्ति को केन्द्रित करता है ।

6. नाच्यौ बहुत गोपाल

नाच्यौ बहुत गोपाल अमृतलाल नागर का उपन्यास है जिसमें श्रेष्ठ उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होकर भंगी समाज का अंग बननेवाली श्रीमती निर्गुणिया की त्रासद कहानी चित्रित है ।

माँ की मृत्यु के बाद निर्गुणिया का पालन पोषण नाना-नानी के सात्विक वातावरण में होता है । जहाँ वह पवित्र आध्यात्मिक संस्कार ग्रहण करती है । नाना नानी की मृत्यु के बाद निर्गुणिया का दुश्चरित्र पिता उसे बंटुक महाराज की नर भूखी भेडियन की माँद में ले आता है । वहाँ की बडी सरकार (अम्मा) स्वयं निर्गुणिया के पिता की रखैल है । यही अम्मा निर्गुणिया को पतन के गर्त में ढकेल देती है । इसके फलस्वरूप निर्गुणिया समय से पहले ही कच्चौरी से औरत बन जाती है ।

रानी सरकार निर्गुणिया को अपना माध्यम बनाकर मास्टर बसंतलाल नामक युवक को अपने वश में करती है और निर्गुणिया को रिश्वत के तौर पर पेश करके उससे अपना काम चलाने लगती है । निर्गुणिया और वसंतलाल के बीच आकर्षण बढता जाता है । लेकिन वसंतलाल की कायरता के कारण यह प्रेम असफल हो जाता है । निर्गुणिया को सीमा से बाहर जाते देख अम्मा उसका ब्याह अपने एक पुराने मित्र पचहत्तर वर्षीय मसूरियादीन महाराज से कराती है । जिसकी "तालों जडी चौमंजिली हवेली" में बंद बूढे आर्यपुत्र की जवान चुलबुलाहटों से लडती घुट घुटकर

जानेवाली निर्गुणिया एक दिन मोहना मेहतर के साथ भाग जाती है और उसका साथ निबाहने के लिए ब्राह्मणी से मेहतरानी बनती है ।

डेढ़ साल की नामर्द बूढ़े आर्यपुत्र की छेड़ खानियों को सहती हुई "अकाल की मारी" निर्गुणिया मोहना मेहतर के साथ अंग संग कर लेती है । प्रारंभ में निर्गुणिया अपनी जाति की स्मृति और ब्राह्मणी संस्कार के प्रति अधिक ध्यान नहीं देती । धीरे धीरे मेहतर जाति के ख्याल से उसका मन मुरझाने लगता है । लेकिन युवा देह की चाह हावी होकर उसके मन पर मंडराने लगती है । मोहना को अपनी जाति का अभिमान है - "मैं क्यों ब्राह्मण बना । तुम्हीं मेहतरानी बनी हो ।"[1] निर्गुणिया का मन दुविधा से घिर जाता है । यह दुविधा गहने-नगदी लेकर मोहना के साथ भागने पर भी बनी रहती है । तन सौंपकर भी धन और मन सौंपने में वह शंकालु हो उठती है । निर्गुणिया अपने पैसे और जेवर से मोहना को स्वावलंबी बनाकर ढंग से रहने के लिए प्रेरित करती है । लेकिन मोहना स्पष्ट कहता है " जब मेहतर से इश्क किया है, रानी तो मेहतरानी बनना भी सीखो, तभी मेरा तुम्हारा निर्वाह हो सकेगा ।"[2] मेहतरानी शब्द निर्गुणिया के मन में और आशंका का पर्याय बन जाता है । उसके मन से एक नये भय का तत्काल उदय होता है । कल्पना मात्र से भी उसे उबकाइयों पर उबकाइयाँ आने लगती है । निर्गुणिया के शब्दों में - "वह कितने श्रेष्ठ कुल में जन्मी पली और पनपी । जहाँ पाखाने के दरवाज़े को धोखे से छूने पर भी उसे नहाना पड़ता था और सारे कपड़े धोने पड़ते थे ।

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 72
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 76

ऐसी अस्पृश्या वस्तु को वह क्यों कर अपने हाथों से स्पर्श कर सकेगी ।"[1] यह जातिपरक अभिमान नहीं है, परिस्थितियों की परिधि में निर्गुणिया की विवशता है ।

मोहना की भाई (सुबरातन) मेहतरानी निर्गुणिया को मार मार भंगिन बना देती है । फिर भी वह मन से मेहतर नहीं बन पाती । निर्गुणिया का संरक्षक मसीता चाचा और नब्बू मज्जू गुल्लन चाची आदि उसे एवजी में अपना नाम चढावा लेने की सलाह देते हैं तो निर्गुणिया तिलमिल हो जाती है । फकीर बाबा जब हँस हँस कर उसे मेहतरानी कहते हैं तो वह फूट-फूट कर रोने लगती है । उसका यह अन्तर्द्वन्द्व दृढ़ संकल्प में बदल जाता है । वास्तविक परिस्थिति संस्कारों को जीत लेती है । वह पूरे तन मन से मेहतरानी बन जाती है । उसके व्यक्तित्व में एकाएक परिवर्तन आता है । वह अपने मोहना से प्रेम करने लगती है और उसे अपना वास्तविक पति मानकर सती बनने की कोशिश करती है ।

परिस्थितिवश मोहना डाकू बन जाता है और बाद में डाकुओं का सरदार भी बन जाता है । निर्गुणिया मोहना की दो संतानों को जन्म देती है । पुलिस मुठभेड में मोहना मारा जाता है । मोहना की मृत्यु के बाद निर्गुणिया डा. एण्डरसन, पूर्व प्रेमी वसन्तलाल, सानिटरी इन्स्पेक्टर आदि की ओर आकृष्ट होती है । लेकिन दूसरा विवाह करने

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 288

या शरीर सुख के लिए विचलित होना वह नहीं चाहती । क्योंकि मोहना डाकू बनकर अनेक स्त्रीयों के साथ रहने पर भी वह निर्गुणिया का प्रेमी और वफादार पति बना रहा था और पिता बनने का सुअवसर प्रदान करने के कारण निर्गुणिया के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट करता रहता था । इसी प्रेमाकुलता के कारण ही अनेक सीमाओं में आबद्ध तथा हीन भावना का शिकार मोहना निर्गुणिया का आराध्य बन जाता है और इसी कारण निर्गुणिया मोहना की मृत्यु के बाद "मोहनमय" बन जाती है । मरने के बाद भी मोहना निर्गुणिया के जीवन में इतना गहरा प्रविष्ट हो जाता है कि उसी के बल पर निर्गुणिया आजीवन पतिव्रता (साध्वी) बनी रहती और सुखमय पारिवारिक जीवन बिताती है । फिर भी अंत में वह आत्महत्या करती है । इसका कोई कारण उपन्यास में नहीं है ।

निर्गुणिया अपने पति मोहना को श्रीकृष्ण का प्रतीक मानती है और आजीवन उसके ध्यान में मग्न रहती है । निर्गुणिया की मृत्यु के बाद उसकी पुत्रवधु उसके गले में पड़े लाकिट खोलती है तो उसके भीतर मीने से बनी वंशी बजाते हुए मोहन की रंगीन तस्वीर पाती है । लेकिन उसका मुख निर्गुणिया के अपने मोहना का है ।

इस उपन्यास में प्रासंगिक रूप में चित्रित हरिजन आन्दोलन के माध्यम से हरिजनों की समस्याओं को उभारने का प्रयास भी है । इसके साथ आर्य समाज का अन्तर्विरोध, उद्देश्य और उसकी वर्तमान स्थिति का भी चित्रण है ।

मेहतरों की समस्याओं का वास्तविक दस्तावेज़ "नाच्यौ बहुत गोपाल" काम, प्रेम और संस्कारों के आपसी द्वन्द्वों को चित्रित करनेवाली एक सशक्त रचना है ।

7. समय बीता हुआ

"समय बीता हुआ" आशीष सिन्हा का उपन्यास है । इसमें श्रमिक संघटन की समस्या का चित्रण है । इस उपन्यास का नायक है आनन्द । उपन्यास के प्रारंभ में आनन्द एक लंबा सफर तय करने के बाद स्टेशन पहुँचता है । वह हज़ारीबाग और धनबाद के बीच स्थित "सुरसतिया माइनिंग एण्ड स्टील वर्क्स" के खदान और कारखाने का नया लेबर वेल्फेयर ऑफिसर बनकर जा रहा है । अपनी यात्रा के दौरान कुछ मज़दूर लोगों के वार्तालाप से आनन्द को मालूम होता है कि लेबर बाबू से ये नफरत करते हैं । उनका कथन है "ठेकेदार उसके हाथ में, यूनियन उसकी मुट्ठी में, लेबर बाबू तक उसकी मुट्ठी में । हम मज़दूरों में न प्रेम और न लड़ने की ताकत । देखो हमको । बारह बरस से काम कर रहे हैं, अब तक पक्की नौकरी नहीं । हर छ सात महीने के बाद छंटाई । एक महीना बैठा के फिर नौकरी । बड़े मियाँ ऐसे ही मर जायेंगे किसी दिन ।"[1]

कारखाने में जाने के पहले आनन्द अपने पुराने अध्यापक जितेन्द्र कुमार के घर जाता है । जितेन्द्र अपने पुराने शिष्य को अपनी पत्नी

---

1. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 10

निशा से परिचय कराता है । अगली सुबह आनन्द अपनी नई ज़िन्दगी शुरू करता है । शाम को खदान मैनेजर चाटर्जी उसे अपने विशाल बंगले पर दावत देता है । कारखाने का मैनेजर गणपति भी उस दावत में शामिल होता है । चाटर्जी और गणपति से आनन्द अपनी जिम्मेदारियाँ समझना चाहता है । वे कहते हैं - "वेल्फेयर ऑफिसर का माने इधर में मालिक का भलाई होता । मालिक को खुश रखो - यूनियन को मुट्ठी में रखो । ठेकेदार से झगड़ा मत करो । अरे मज़दूर तो साला मज़दूर ही रहेगा । उधर में पचास ठो झंझट है । कहाँ तक देखेगा तुम ? इसी वास्ते बोलता, मालिक को खुश रखो, कम्पनी का नफा बढाओ - तुम भी प्रोग्रेस करेगा, कम्पनी भी ।"[1]

आनन्द सप्ताह भर कारखाने और खदान में घूमता रहता है । वह इस माहौल से परिचित होना चाहता है । खदान की दुनिया एक नई दुनिया है उस के लिए । इस दुनिया का अपना अलग रंग है । वह इस रंग को पहचानना चाहता है । आनन्द जानता है, चाटर्जी और गणपति फेंस के इधर खड़े हैं । फेंस के उस पार जो असंख्य लोग हैं, उनसे इनका कोई वास्ता नहीं । ज्यो ज्यों वक्त गुज़र जाता है, आनन्द वह दीवार लाँघना शुरू करता है ।

उधर समानान्तर रूप में आनन्द की वैयक्तिक जीवन की एक कथा भी चलती रहती है जो उसके और निशा के बीच की संवेदनाओं को

---

1. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 13

उभारकर रखता है । आनन्द अपने गुरु जितेन्द्र के यहाँ आया जाया करता है । इसी बीच जितेन्द्र की पत्नी से स्थापित किये जानेवाले परिचय गहरा रूप धारण करता है । सहगल जो कि जितेन्द्र के विभाग का ही प्राध्यापक है इस कथा में एक खलनायक की भूमिका अदा करता है ।

मज़दूरों पर किये जानेवाले शोषण को समाप्त करने के लिए और मज़दूरों की भलाई के लिए आनन्द काम शुरू करता है । उसका कथन है - "सब से पहले मैं खदान और कारखाने के मज़दूरों को इनके अधिकारों के विषय में सचेत करना चाहता हूँ । मैं ने देखा कि सैकडों मज़दूर यही नहीं जानते कि उनका शोषण होता है । वे अब भी भाग्य और परमात्मा की अनुकथा पर जी रहे हैं ।"[1]

सुरसातिया खदान में होनेवाली दुर्घटना से अनेक लोगों की मृत्यु होती है । इसी से लेकर खदान और कारखाने में बहुत सारी घटनायें होती है । अधिकारी वर्ग इस दुर्घटना से अनुचित लाभ उठाना चाहता है और मज़दूरों का शोषण करता है । लेकिन आनन्द बहुत अधिक कठिनाइयों को सहकर मृतमज़दूरों केलिए यथासंभव मुआवजे का इन्तजाम करता है और दुर्घटना जाँच समिति में सभी अनियमितताओं का उल्लेख भी । इससे कुपित होकर मैनेजर चाटर्जी दाँत पीसते हुए धीरे से कहता है "आई विल सी यू हम तुम को देख लेगा ।"[2]

---

1. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 74
2. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 33

तमाम मज़दूरों में आनन्द को शफीक और रामभजन ज़्यादा प्यारे हैं । कारखाने की पहली मज़दूर यूनियन बनी तो ये दोनों आनन्द की सब से ज्यादा मदद करते है । रामभजन यूनियन के सचिव का पद संभालता है और शफीक अध्यक्ष बनता है । खदान यूनियन ही कम्पनी की एकमात्र यूनियन है । पर उसकी भूमिका लगभग नहीं के बराबर है । इसका एकमात्र काम रह जाता है हर महीने चंदा इकट्ठा करना । कांग्रेसी नेता रामविलास बाबू इसके नेता है जो अक्सर दिल्ली में रहते हैं । मज़दूर कभी हड़ताल की धमकी देते तो, रामविलास बाबू दिल्ली से बडे बडे कांग्रेसी नेताओं को यहाँ लाते और रुपये, पैसे, ताडी, शराब आदि बाँटकर हड़ताल रुकवाते ।

श्रमिकों के कल्याण में विशेष रुचि रखनेवाला आनन्द नेता बनकर मज़दूर रामभजन, शफीक, कारो, मंडल आदि की सहायता से व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाता है । इस पर कुपित होकर सेठ साहब बालेश्वर की सहायता से टूटे हूक पर ड्रम को लटकाकर आनन्द की हत्या करने की कोशिश करता है । लेकिन रामभजन की सहायता से वह बच जाता है । इस घटना से उत्तेजित मज़दूरों की भीड बेकाबू हो जाती है । इस सिलसिले में आनन्द शफीक और रामभजन पर गुंडागर्दी दंगे और कत्ल करने के प्रयास के आरोप लगाये जाते हैं । शफीक रामभजन और आनन्द को मुअत्तिल किया जाता है । लेकिन आनन्द और उसके साथी फिर भी संघर्ष करते रहते हैं । आनन्द के मनोबल को तोडने के लिए व्यवस्था अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचती है । थाने पर उन्हें अमानवीय यातनाओं को सहना पडता है । "एक रूल हाथ में लेकर पुलिस अफसर ने कहा - जब यह रूल तुम्हारे

पीछे से घुसाऊँगा या तुम्हें नंगाकर तुम्हारे अण्डकोष का अचार बनाऊँगा तभी मेरा पीटना पूरा होगा ।"[1] लेकिन आनन्द उन सभी का साहस के साथ सामना करता है और श्रमिकों का एक नया संघटन तैयार करता है । इससे सचेत होकर व्यवस्था आनन्द को फिर से लेबर वेल्फेयर ऑफीसर बना देती है और चतुराई से पहले की योजना के अनुसार उसकी हत्या करवाती है । इस हत्या से उपन्यास का अन्त हो जाता है ।

उपन्यास में निशा की मानसिकता का बड़ा मार्मिक चित्रण है । जितेन्द्र की शारीरिक शिथिलता से थककर निशा आनन्द की ओर उन्मुख होती है । आनन्द तो निशा से प्यार करता है । लेकिन गुरुपत्नी समझकर छोड़ देता है । इसी बीच पड़ोसी सहगल धोखे से उसके साथ शारीरिक संबंध स्थापित करता है । निशा तो सेक्स की तृप्ति के लिए एक सबल आधार की प्राप्ति के लिए भटक रही है । फिर भी सहगल के इस कार्य से निशा आक्रोश से भर जाती है और उसे विषैला जानवर कह देती है । यह तो आज की भारतीय नारी की विडम्बना है - "पत्नी किसी की, मन में कोई और पुरुष और शरीर किसी तीसरे पुरुष को ।"[2] जितेन्द्र कुमार निशा से कहता है - "मैं पति होकर भी कहता हूँ, अपनी खुशी के लिए तुम कोई भी कदम उठा सकती हो ।"[3] पति होकर भी तो वे पत्नी को किसी और को सौंपने के लिए मानसिक रूप से तैयार है । एक पौरुषहीन पति के लिए इस विडंबना के सिवा और कोई चारा नहीं है ।

---

1. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 139
2. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 123
3. आशीष सिन्हा - समय बीता हुआ - पृ. 103

इस प्रकार यह उपन्यास श्रमिक संघटन की समस्या और उसके अवरोधक तत्वों के क्रियाकलापों को अपने में सहेजने का प्रयास करता है । और यह दिखाता है कि किस तरह, श्रमिक वर्ग की संघटित शक्ति तोडने के लिए व्यवस्था षड्यन्त्रों को रचती रहती है ।

8. कटरा बी आर्ज़ू

आपातकालीन पृष्ठभूमि पर लिखा गया राही मासूम रजा का उपन्यास है "कटरा बी आर्ज़ू" । इलाहाबाद के "कटरा मीर बुलाकी" नामक काल्पनिक मुहल्ला उपन्यास का केन्द्र है । "लेखक उस मुहल्ले के अनेक सामान्य लोगों के सुख दुःख की ज़िन्दगी का वर्णन करते हुए उन्हें आपातकाल के दबाव से गुजारता है और आपातकाल की भयानक विसंगतियों और राजनीति के छल-छद्मों का उद्घाटन करता है ।"[1]

कटरे में ज़्यादा निम्न मध्यवर्गीय एवं मज़दूर लोगों के परिवार है । इसमें एक शम्भू मियां का परिवार है, जो अपनी बीवी और महनाज़ एवं शहनाज़ नामक दो बेटियों के साथ रहता है । वह स्थानीय राजनेता एवं कांग्रेस एम.पी. गौरीशंकर पाण्डेय के नेशनल गैरेज में मेकानिक है । उसकी स्थिति यह है कि दिन भर काम करने के बावजूद, दो वक्त का भरपेट खाना नहीं जुटा पाता । उसका जवान बेटा सुखमय जीवन का सपना देखकर पाकिस्तान चला गया था । महनाज़ विधवा है और शहनाज़ की शादी अब्दुल हसन "नायाब" मछली शहरी से तय हुई है । लेकिन दावत

---

1. डा. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - पृ. 173

देने के लिए मछली शहरी के पास पैसा न होने के कारण अभी तक शादी नहीं हो पायी है ।

मुहल्ले का दूसरा परिवार भोलू पहलवान का है जिसकी कटरे में चाय की दूकान है । पहले वह पहलवानी करता था । भोलू पहलवान के परिवार के दो सदस्य हैं - देशराज और बिल्लो । देशराज के माँ-बाप हिन्दु - मुस्लिम दंगे में मारे गये थे और बचपन से ही पहलवान उसे अपने पुत्र की तरह पालता था ।

देशराज, शम्सू मियाँ का शिष्य और नेशनल गैरेज में मेकानिक है । बिल्लो पहलवान की विधवा बहिन की बेटी है । इन दोनों के पालन पोषण के लिए ही पहलवान ने शादी नहीं की थी । देशराज और बिल्लो की शादी बहुत पहले ही तय हुई थी । लेकिन अभी तक इसलिए शादी नहीं हुई थी कि बिल्लो शादी के पहले ही अपना एक घर बनाना चाहती है । इस सपने की पूर्ति के लिए वह कटरे में "जनता लाँड्री" चलाती है । और एक एक पैसा बचाकर वह डाकघर में जमा करती है । वह पहलवान और देशराज से भी धुलाई के लिए पैसा लेती है ।

कटरे का एक और परिवार बाबूराम "आज़ाद" का है । वह निष्ठावान कांग्रेसी है । उसका बेटा कवि था और पुलिस ने उसे नक्सली कहकर गोली से मार दिया था । अब बाबूराम अपनी पुत्रवधु और पोता आशाराम के साथ रहता है । आशाराम पत्रकार है और वामपंथी

विचारधारा रखनेवाला है । विश्वविद्यालय में पढते समय प्रेमानारायण आशाराम की प्रेमिका रही । राजनैतिक मतभेद के कारण दोनों एक दूसरे से अलग हो गये । प्रेमा नारायण अब आकाशवाणी में न्यूस रीडर है । इनकम टैक्स देनेवाला भिखारी इतवारी बाबा, पुलिस दरोगा जगदम्बा प्रसाद आदि भी कटरे के रहनेवाले हैं । कटरेवाले चाहे गरीब क्यों न हो, आपसी प्यार और संबंधों में सहजता की उनमें कमी नहीं है । उनमें धार्मिक भेद-भाव नहीं । वे एक दूसरे के सुख दुःख में भागीदार हैं ।

"जिस दिन शहनाज़ और मास्टर बद्रुल हसन "नायाब" मछली शहरी की शादी तय हुई, उसी रात उन्होंने इस कटरे का नाम बदलकर "कटरे बी आर्ज़ू" रख दिया । यूँ भी वह बहुत दिनों से देखते चले आ रहे थे कि उनके कटरेवालों के पास और तो कुछ नहीं पर आर्ज़ुएँ बहुत हैं ।"[1] वह कटरे के नामपट्ट में चाकू से "कटरा बी आर्ज़ू" लिख देता है । कटरे से रोज़ गुज़रनेवाला पत्रकार आशाराम यह नाम पढता और पसंद करता है । वह इस नाम पर एक लेख लिखता है । संपादक को लेख पसंद आता है और इस पर एक सीरियल लिखने की फरमाइश करता है और आशाराम इसमें जुट जाता है ।

"कटरे बी आर्ज़ू" नाम से सरकार को परेशानी होती है कि यह सरकार का तख्ता उलटने की किसी साजिश का "लोड नाम" न हो

---

1. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्ज़ू - पृ. 11

इसे लेकर खुफिया पुलिस के कार्यालय में के. बी. ए. फाइल खुल जाती है और पुलिस आशाराम के पीछे पड जाती है । आशाराम को इन सब का पता नहीं चलता । इस बीच आशाराम की प्रेरणा से नेशनल गैरेज के मज़दूर उचित वेतन के लिए हड़ताल करते हैं । लेकिन वे विजयी नहीं होते । गौरी शंकर पाण्डे मज़दूरों को वश में कर ट्रेड यूनियन बनाना चाहता है, क्योंकि वह सोचता है कि ट्रेड यूनियन नेता होने पर मन्त्री पद मिलना आसान है । इसलिए शम्सू मियाँ और देशराज को वह "डिनर" पर बुलाता है और उन्हें ललचाता है । गरीबी के कारण शम्सू मियाँ आसानी से उसके हाथों बिक जाता है । लेकिन देशराज धन और यूनियन सेक्रेटरी पद के मोह में मज़दूरों के अधिकारों को बलि देने के लिए तैयार नहीं होता । यहाँ पर शम्सू मियाँ देशराज से अलग हो जाता है और वह गौरीशंकर पाण्डे के मज़दूर यूनियन का प्रेसिडेंट बन जाता है । देशराज नेशनल गैरेज में भूख हड़ताल करता है और वह नौकरी से निकाल दिया जाता है ।

देशराज इंदिरा गाँधी की किसी विकास योजना के अंदर बैंक से कर्ज लेकर इंदिरा मोटर वर्कशाप खोलता है । धीरे धीरे देशराज की आर्थिक स्थिति में सुधार आता है । बिल्लो और देशराज मिलकर एक छोटा सा मकान बना लेते हैं और उनकी शादी होती है । इस बीच "शम्सू मियाँ" की विधवा बेटी महनाज़ की शादी जोखन से होती है जो उम्र में शम्सू मियाँ से ज़्यादा कम नहीं है । पहले महनाज़ की शादी एक दूसरे जवान से तय की थी । उसको देने के लिए बिल्लो और देशराज ने रेडियो, साईकिल, घडी आदि का भी इन्तज़ाम किया था । लेकिन दुर्भाग्यवश वह युवक मीसा के अन्दर गिरफ्तार किया गया था ।

इन्हीं दिनों इलाहबाद हाईकोर्ट के न्यायाधीश जगमोहन का फैसला आता है कि इन्दिरा गाँधी का चुनाव गैर कानूनी है । इसके आधार पर विपक्षी दलों के नेता एवं कांग्रेस के कुछ वरिष्ट नेता इंदिरा गाँधी से त्यागपत्र की माँग करते हैं । लेकिन वे त्यागपत्र देने के लिए तैयार नहीं होती । और इससे उत्पन्न हलचल से बचने के लिए श्रीमती गाँधी देश में आपातकाल की घोषणा करती है । पहले तो लोगों को लगता है कि इमर्जेन्सी से गरीब लोगों की स्थिति सुधर रही है क्योंकि जो चावल, दाल, मिट्टी के तेल जैसी चीज़ें बाज़ार में न मिलती थी, अब मिलने लगती और दूकानों में चीज़ों की मूल्य सूची भी प्रदर्शित होने लगती है । बिल्लो और देशराज को यह सब देखकर खुशी होती है । लेकिन वह खुशी क्षणिक थी ।

आपातकाल की घोषणा के बाद के. बी. ए. फाइल केन्द्रीय गुप्तचर विभाग को सौंप दिया जाता है और जाँच पडताल के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है । वह अपनी तरक्की चाहता है और इसलिए आशाराम को फँसाकर ख्याति प्राप्त करना चाहता है । स्थितियों को बिगडते देखकर आशाराम वहाँ से भाग जाता है । जेलखाने को सुरक्षित महसूस कर वह बिना टिकट के रेल गाडी में सफर करता है । वह पकडा जाता है और व्याज नाम से जेल जाता है । इमरजेन्सी के पक्ष में बोलने के लिए देशराज, बिल्लो और पहलवान आकाशवाणी में बुलाये जाते हैं । देशराज वहाँ गिरफ्तार किया जाता है । आशाराम का पता लगाने के लिए देशराज को इतनी अमानवीय यातना दी जाती है कि वह पागल बन जाता है । और रातों रात पुलिस उसे कटरे में फेंक आती है ।

महनाज़ "यूत कॉंग्रेस" में शामिल होकर देखते देखते नेता बन बैठती है । आकाशवाणी में देशराज से संबद्ध समाचार पढने के कारण प्रेमानारायण गिरफ्तार कर ली जाती है । थाने में पुलिस के जवान एक एक करके उससे बलात्कार करते हैं । इसके बीच आशाराम अपने को पुलिस के हाथों हवाले कर देता है और कॉंग्रेस में शामिल होकर श्रीमती गाँधी के पक्ष में प्रचार करने लगता है । हवा को अनुकूल समझकर पंडित गौरीशंकर पाण्डे, शिवशंकर पाण्डे मार्ग को चौडा करने की योजना बनाता है । पहले भी वह इसी सोच में था । योजना के अनुसार सडक के किनारे के मकान गिराये जाते हैं । बदले में दूसरी गली में मकान का एलॉटमेंट आर्डर दी जाती है । लेकिन वहाँ कोई मकान नहीं था । इस अभियान के दौरान बिल्लो का घर भी गिराया जाता है । बिल्लो अपनी बेटी के साथ बुलडोसर के नीचे कुचली जाती है । इसके पहले ही उसकी लॉट्री बिक चुकी थी । इसी प्रकार संजय गाँधी की नसबंदी योजना के अन्दर अविवाहित मास्टर बद्रुल हसन "नायाब" की जबरदस्त नसबंदी की जाती है ।

आपातकालीन स्थिति की समाप्ति के उपरान्त गौरीशंकर पाण्डे स्थितियों को बिगडते देखकर कॉंग्रेस छोडकर जनता पार्टी में शामिल होता है । चुनाव में "कटरे बी आर्ज़ू" से लडने के लिए टिकट मिलता है । आशाराम कॉंग्रेस का उम्मीदवार हो जाता है । प्रेमानारायण आशाराम के विरुद्ध प्रचार करती है । चुनाव में आशाराम हार जाता है और गौरीशंकर पाण्डे विजयी होता है । पाण्डे की सफलता की खुशी में जुलूस निकाला जाता है । पागल देशराज भीड से उत्साहित होकर आगे बढता है और जुलूस के ट्रक के नीचे कुचला जाता है । और कटरेवाले की

अर्जुओं की सफलता में एक ओर प्रश्न चिह्न लगा देता है ।

आपातकालीन परिवेश का एक ओर जहाँ व्यापक चित्र प्रस्तुत किया गया है वहाँ दूसरी ओर राही मासूम रजा ने व्यक्तियों की सूक्ष्म मनोवृत्तियों और प्रतिक्रियाओं का भी अंकन किया है ।

9. चित्तकोबरा

मृदुलागर्ग का उपन्यास है चित्तकोबरा । यह तो "मूल में सार्वकालिक लेकिन परिवेश में अत्यन्त आधुनिक जीवन शक्ति से भरपूर एक मर्मस्पर्शी प्रणय गाथा" है ।[1]

इस उपन्यास का कथ्य बहुत ही छोटा और आवेगपूर्ण है । इसमें तीन प्रमुख पात्र हैं । मनु, महेश और रिचर्ड । मनु और उसका पति महेश गोयल दोनों सुखी दाम्पत्य जीवन बिता रहे हैं । गोयल अच्छे पद पर है, अच्छा कमाता है । जब उसने विवाह किया था तब भी जानती थी कि महेश के लिए यह एक तयशुदा सुनिश्चित विवाह से अधिक कुछ नहीं है । डर के मारे मनु ने कभी महेश से पूछा ही नहीं कि वह उससे प्रेम करता है या नहीं । वह स्वीकारती है कि "मैं चुपचाप उसे वह सब देने में जुट गयी थी जो मेरे ख्याल से एक औसत पति-पत्नी से चाह सकता था ।

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा फ्लैप से उद्धृत ।

सुन्दर सुघड़ घर-गृहस्थी साफ स्वस्थ बच्चे, सजी सँवरी सुघड़-सजग पत्नी ।"[1]
मनु दो बच्चों की माँ है । उसे एक प्रश्न पिछले दस सालों से सताता रहा "क्या महेश मुझे प्यार करता है ? वैसे जैसे मैं करती हूँ । अच्छा न सही वैसे, जैसे मैं करती हूँ, करता तो है ? क्या बिलकुल करता ही नहीं ।"[2] महेश तो मनु की प्रतिबद्धता से कटा हुआ रहता है । कई स्थल पर वह स्वीकारता है कि मनु किसी दूसरे पुरुष को चाहे यह उसे स्वीकार नहीं है । लेकिन वह स्वयं दूसरी नारी को पा लेने की आकांक्षा से भरा हुआ है । "विवाह के बन्धन में मेरा विश्वास नहीं है मनु ।"[3] यह छोटा सा वाक्य मनु के भीतर तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है । वह अपने जीवन की सार्थकता के लिए तीसरे की खोज का प्रयास आरंभ करती है ।

उपन्यास की नायिका मनु विवाह के बाद भी नाटकों आदि में काम करती है । एक बार जमशेदपुर में एक क्लब में नाटक के रिहर्सल के दौरान उसकी भेंट रिचर्ड हचिसन से होती है । रिचर्ड चर्च की ओर से समाज सेवा का कार्य करता है । रिचर्ड चर्च में पादरी है । वह विवाहित भी है । जैनी उसकी पत्नी है । अपनी पारिवारिक एकरसता को दूर करने के लिए मनु रिचर्ड से दोस्ती करती है । मनु का रिचर्ड के साथ शारीरिक संबंध भी हो जाता है । रिचर्ड और मनु का प्रेम संबंध समाज विरोधी होने से तनाव का कारण बनता है । निरर्थक

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 101
2. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 101
3. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 102

कल्पनाओं, वाक्यांशों एवं दिवास्वप्नों के माध्यम से यह तनाव व्यक्त होता है ।

मनु के मानसिक बदलाव को देख महेश अपनी पत्नी के जीवन में लौट आता है । "तेरे साथ बड़ी भारी विडम्बना घट गयी है मनु उसने कहा, शायद ठीक उसी समय जब तुम ने मुझे प्यार करना बंद कर दिया मैं तुम्हें प्यार करने लगा ।"[1] मनु महेश के ही आकर्षण से बँधी है । वह अपने शारीरिक आवेगों को लेकर जितनी कल्पनायें बुनती हैं उनमें महेश उपस्थित है । इसलिए वह महेश को पुनः पाकर खुश हो जाती है । मनु और महेश के शारीरिक संबंधों को लेखिका ने इस तरह प्रस्तुत किया है - "महेश ने मेरी देह में प्रवेश कर लिया है । पुरुष और स्त्री का संभोग कुछ नहीं है यह महज एक गढ़े को भर देने की उत्कट लालसा, जो हर मानव को विरासत में मिली है हमारे शरीर एक होकर बिस्तर पर पड़े छटपटा रहे हैं, तिलमिला रहे हैं, पसीने में लथपथा रहे हैं कि आवेग की विद्युत लहरें हमें छुए और हम शॉक खाकर एक लंबी सीत्कार के साथ जड़ हो जायें ।"[2]

उपन्यास में महेश की उपेक्षा का कारण नहीं मिलता है । शरीर भोग को प्राथमिकता देनेवाली मनु की पति-प्रतिबद्धता का कारण भी समझ में नहीं आता । मनु में प्यार की भूख से अधिक शरीर भूख है ।

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 104-105
2.

यही कारण है कि मनु बेझिझक महेश और रिचर्ड दोनों के साथ शारीरिक संबंध कर लेती है । मनु कामोत्तेजना से आपूरित रहती है । वह हमेशा शारीरिक सुख की पूर्ति में लगी रहती है । याने मनु की कामेच्छा हर वक्त जागृत रहती है ।

इस उपन्यास में रिचर्ड के चरित्र की जानकारी मनु की मानसिकता से होती है । वह मनु की आकांक्षा का एक पूरक पात्र है । इसलिए अपनी आकांक्षाओं से भरी हुई मनु रिचर्ड की तरफ आकर्षित होकर महेश को अपनी ओर उन्मुख करती है । वास्तव में रिचर्ड बड़े वृक्ष की निर्जीव छाया की तरह है जिसमें कभी अपनी आवश्यकतानुसार मनु बैठना पसंद करती है । लेकिन इस बैठने में आत्मा का लगाव नहीं है । रिचर्ड विदेश चला जाता है, पत्र भेजता है और कभी कभी खुद भी आ जाता है । रिचर्ड की दृष्टि में "जो प्रेमी बलिदान चाहे, वह प्रेमी नहीं होता, बलिदान के बाद प्रेम प्रेम नहीं रहता, परोपकार बन जाता है । आदर्श नहीं घमंडी और बनावटी परोपकार । मैं जानती हूँ तुम मुझसे प्रेम करती हो, बलिदान न तुम माँगती न मैं देता ।"[1]

रिचर्ड की पत्नी जैनी का अधिक वर्णन उपन्यास में नहीं है । समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम संबंध समाज में निंदनीय होते है । उपन्यास में रिचर्ड और मनु का संबंध इसी प्रकार का है । रिचर्ड की

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 50

पत्नी जैनी मनु के पत्रों को देखकर रिचर्ड पर बिगड उठती है और पत्रों को फाड देती है ।

रिचर्ड के बँगलादेश वापस चले जाने पर कथा समाप्त होती है । मनु के बारे में लेखिका की सफलता यह है कि मनु रिचर्ड से मानसिक स्तर पर जुडती है । उसे भी शरीर देती है । लेकिन अपने पति को शरीर समर्पित करते हुए हिचकिचाती नहीं है । रिचर्ड के चले जाने के बाद मनु गृहस्थी में जुड जाती है । उसके मन में कहीं भी कुण्ठा नहीं ग्लानि नहीं । रिचर्ड से उसके संबंधों का उसके वैवाहिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पडता है ।

इस उपन्यास में कथ्य की सीमितता मिलती है । लेकिन मनोभावों की तीव्रता का अभाव है । पूरे उपन्यास में केवल शारीरिक हलचलों और मैथुन क्रिया का विस्तृत वर्णन है या सेक्स आवेग का अनावश्यक विस्तार है । "चित्तकोबरा" एक ऐसा उपन्यास लगता है जिसमें पति-पत्नी और तीसरे के बीच के संबंधों को शारीरिक स्तर पर व्याख्यायित करने का प्रयास किया गया है । उन्मुक्त रति की भावना को परिवार के दायरे में प्रस्तुत कर नारी की भोगेच्छा का और उसी के माध्यम से पति को अपनी ओर अधिक खींचने का जो प्रयास मिलता है वह पूर्ण रूप से स्वीकारा नहीं जा सकता । इसके पीछे नारी स्वतंत्रता की दृष्टि प्रवर्तमान लगती है ।

10. महाभोज

सामंती सभ्यता से पीड़ित सरोहा नामक गाँव में, बिसू (बिसेसर) नामक हरिजन युवक की हत्या होती है । उस हत्या को अपने हित में करके लोगों की सहानुभूति जीतने की कोशिश करनेवाले सत्ताधारी एवं विपक्षी राजनीतिज्ञों की कुत्सित वृत्तियों का यथार्थपरक चित्र है मन्नू भण्डारी का उपन्यास महाभोज । सरोहा में सामंती सभ्यता का बोलबाला है, ज़मीन्दार किसान और मज़दूरों का शोषण करते हैं । पुलिस और शासक वर्ग ज़मीन्दारों के अत्याचारों का साथ देते हैं । कोई इन ज़मीन्दारों के विरुद्ध आवाज़ उठाता है तो उसे हमेशा के लिए खामोश किया जाता है ।

सरोहा गाँव में हाल ही में हरिजन टोले के कुछ झोंपड़ियों पर आग लगा दी जाती है । आगजनी के पीछे ज़मींदार जोरावर का हाथ है जो मुख्यमंत्री दा साहब की कृपा का पात्र है और वह बच जाता है । विपक्षी दल और सत्ताधारी दल के असंतृप्त लोग इस घटना से लाभ उठाना चाहते हैं । परंपरा के अनुसार जाँच पड़ताल के लिए बड़े अफ़सर की नियुक्ति होता है । वे अपने बड़प्पन और मुस्तैदी दिखाने के लिए उन दोनों कॉन्स्टबलों को सस्पेण्ड कर देते हैं जो आगजनी के वक्त थाने में ड्यूटी पर थे ।

आगजनी से संबद्ध जाँच पड़ताल दिखावा मात्र रह जाती है । बिसू आगजनी और ज़मींदारों के अत्याचारों पर प्रमाण जुटाकर दिल्ली जाकर नेताओं के सामने जमींन्दारों का यथार्थ रूप प्रस्तुत करना

चाहता है । बहुत दौड धूप करके प्रमाण जुटाता भी है । लेकिन दिल्ली जाने से पहले ही वह मारा जाता है । इस हत्या की खबर फैल जाती है तो खूब हंगामा होता है । सरोहा में डेढ महीने बाद चुनाव होनेवाला है । इसलिए बिसू की हत्या महत्वपूर्ण घटना बन जाती है । विधान सभा की केवल एक सीट पर होने पर भी यह चुनाव बहुत महत्वपूर्ण है । क्योंकि इस सीट के लिए भूतपूर्व मुख्यमंत्री सुकुल बाबू खुद खडा है, सत्तारूढ पार्टी के पूरे अस्तित्व को चुनौती देता हुआ । सुकुल बाबू सरोहा में भाषण देता है, हरिजन और मजदूरों से हमदर्दी प्रकट करता है । उनकी लडाई स्वयं लडने का वादा करता है । और कहता है - "मुझे दा साहब से न्याय माँगना है । बातें और आश्वासन नहीं, नौ नौ आदमियों को मारनेवाला मुजरिम चाहिए । बिसू को मारनेवाला हत्यारा चाहिए ।"[1] भाषण के बाद वह सीधे बिसू के घर जाता है उसके पिता से मिलने के लिए । लेकिन घर बंद मिलता है तो वह निराश होता है । यह सारा दिखावा लोगों को अपने वश में करने के लिए करता है । यथार्थ का दूसरा पहलू यह है कि जब सुकुल बाबू मुख्यमंत्री था, तब बिना कोई जुर्म के बिसू गिरफ्तार किया गया था और बिना मुकदमा चलाये चार साल जेल में रखा गया था ।

दा साहब अपने चेला लखन को चुनाव में खडा कर देता है, सुकुल बाबू के विरुद्ध । इस कारण पार्टी के अंदर ही तनाव है । लेकिन दा साहब दूसरों के आगे झुकनेवाला नहीं है । वह "मशाल" के संपादक दत्ता बाबू को अपने यहाँ बुलाकर बातें करता है, पेपर की कोटा बढा देता है और सरकारी विज्ञापन भी । परिणाम स्वरूप मशाल

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 31

दा साहब के समर्थन और प्रशंसा में लग जाता है । चुनाव जीतने और लोगों का ध्यान बिसू की हत्या से हटाने के लिए दा साहब घरेलू उद्योग योजना की घोषणा करता है और मशाल इसका खूब ढिंढोरा पीटता भी है । दा साहब सरोहा पहुँचकर सीधे बिसू के घर जाता है, उससे गले मिलता है और उसे भी सभा में ले जाकर अपने पास बिठाता है । दा साहब बड़े संयम के साथ भाषण देता है, घरेलू उद्योग योजना से होनेवाली प्रगति के रंगीन सपने दिखाता है और इसे बापू के सपने का साक्षात्कार कहता है । साथ ही साथ घोषित करता है कि पुलिस विभाग से सूचना मिली है कि बिसू ने आत्महत्या की है । आगजनी के मुजरिम न पकड़े जाने के लिए वह गाँववालों को जिम्मेदार बताता है, क्योंकि गाँववालों ने कोई प्रमाण नहीं दिया था । बीच में एक युवक (बिदा) कहता है कि बिसू ने आत्महत्या नहीं की है, वह मारा गया है, तो दा साहब प्रमाण पूछता है । वह लोगों को आश्वासन देता है कि वह एक बड़े पुलिस अधिकारी को भेज देगा और असली मुजरिम को पकड़ने के लिए लोगों को उसकी सहायता करनी होगी । घरेलू उद्योग का उद्घाटन दा साहब बिसू के पिता से करवाता है । और इन सारी बातों से गाँव के लोगों को जीतने में वह सफल होता है ।

दा साहब के निर्देशानुसार एस. पी. सक्सेना बिसू की मृत्यु के बारे में जाँच पड़ताल करने के लिए सरोहा आता है । आने से पहले डी. आई. जी. सिन्हा उसको बता देता है कि यह आत्महत्या का मामला है, रिपोर्ट भी तैयार है । लेकिन लोगों को विश्वास दिलाने के लिए उनसे बयान लेना है और पूरी तरह लेना है । इससे सक्सेना का उत्साह बुझ जाता है । फिर भी दा साहब के कहे अनुसार वह लोगों से ऐसा व्यवहार करता है कि उनमें किसी प्रकार का आतंक न फैल पायें ।

फलस्वरूप लोग निडर होकर बयान देते हैं । इससे सक्सेना को मालूम हो जाता है कि यह आत्महत्या का नहीं हत्या का मामला है । सक्सेना इसे लेकर आगे बढ़ता है । जब दा साहब को पता चलता है कि जाँच पड़ताल का रुख बदल गया है और उसका नतीजा अपने लिये हानिकारक होगा तो इन्क्वयरी का दायित्व सक्सेना से लेकर डी.आई.जी. सिन्हा को सौंप देता है । साथ ही साथ जाँच पड़ताल की दिशा को बदल देता है । और परोक्ष रूप से संकेत भी करता है कि किसे मुजरिम ठहराना चाहिए ।

दा साहब के मन्त्रिमण्डल के सदस्य अव्यवस्था के इस अवसर का फायदा उठाने की कोशिश करते हैं । पाँच मन्त्री, शिक्षा मंत्री लोचन भैया के नेतृत्व में पार्टी छोड़कर विपक्षी दल से मिलकर सत्ता हथियाने का प्रयास करते हैं । पार्टी अध्यक्ष अप्पा साहब उन्हें मनाने का प्रयत्न करता है, लेकिन सफल नहीं होता । कुशल दा साहब इन पाँचों से दो सदस्यों को वश में कर लेता है तो योजना फेल होने और अपने पद नष्ट हो जाने के डर से स्वास्थ्य मंत्री राव और विकास मन्त्रि चौधरी दा साहब के सामने झुक जाते हैं । आदर्शवादी लोचन भैया समझौते के लिए तैयार नहीं होता और उसे मन्त्री पद से निकाल दिया जाता है ।

विपक्षी नेता सुकुलबाबू के लोग जोरावर को भड़काकर चुनाव में खड़ा होने के लिए तैयार करते है । घरेलू उद्योग योजना और एस.पी. सक्सेना द्वारा की जानेवाली इन्क्वयरी के कारण जोरावर पहले ही दा साहब से नाराज़ था । लेकिन दा साहब आगजनी और बिसू की

हत्या से संबद्ध फाइल दिखाकर जोरावर को जेलखाने की ज़िन्दगी की याद दिलाता है । इससे जोरावर डर जाता है और चुनाव लड़ने के फैसले से पीछे हट जाता है ।

दा साहब की इच्छा के अनुसार डी. आई. जी. सिन्हा रिपोर्ट तैयार कर देता है । बिसू की हत्या का जुर्म लगाकर बिसू के मित्र बिंदा को गिरफ्तार कर लिया जाता है । डी. आई. जी. सिन्हा को आई. जी. का पद मिलता है । और एस. पी. सक्सेना की मुअत्तली होती है । इस प्रकार दा साहब अपने शत्रुओं को पराजित कर देता है । लेकिन एस. पी. सक्सेना आगजनी और बिसू की हत्या का प्रमाण लेकर बिन्दा की पत्नी रुक्मा के साथ दिल्ली रवाना होता है ।

उपन्यास में मन्नू भण्डारी ने राजनैतिक धाँधली और गुण्डागर्दी के बल पर सत्ता को अपनाने वाले राजनीतिज्ञों की तिकडमबाजी का चित्र प्रस्तुत किया है । साथ ही साथ वोटों की झीना झपटी के लिए हारजनों की बस्ती को जलाकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने की निन्दनीय और हीन अपराध कर्मों का भी पर्दाफाश किया है । मुख्यमन्त्री और विपक्ष दोनों अमानवीयता के शिकार असहाय मनुष्यों के माँस को नोचकर खानेवाली गीदड़ों के समान सारे उपन्यास में मँडराते हैं क्योंकि उन्हें महाभोज की प्रतीक्षा है ।

सामाजिक स्थिति का चित्रण

1. पति-पत्नी के बीच का संबंध

तीन उपन्यासों में पति-पत्नी के बीच के संबंधों की व्याख्यात्मक स्थितियों का विवरण प्राप्त होता है । आपका बंटी, अन्तराल और चित्तकोबरा ये तीन उपन्यास है जिनमें पति-पत्नी के संबंधों के तीन अलग अलग आयाम प्रस्तुत किये गये हैं । आठवें दशक की रचना प्रक्रिया के अंदर आनेवाले परिवर्तित दृष्टिबोध का उदाहरण प्रस्तुत करनेवाली तीन अलग स्थितियाँ पाठक को नये ढंग से सोचने के लिए बाध्य करती है । पति-पत्नी के संबंधों से उलझी हुई सन्तान की दर्द भरी कहानी और स्त्री पुरुष संबंधों के अन्तराल और सेक्स की ऐन्द्रजालिक स्थिति इन्हीं उपन्यासों में क्रमशः उभरकर आती है ।

"आपका बंटी" में अजय और शकुन दोनों पति-पत्नी है । किन्तु वे अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं हो पाते । असामंजस्य के कारण दोनों अलग अलग रहने लगते है । अजय मीरा के साथ रहने लगता है और शकुन जोशी से विवाह कर लेती है । बंटी के लिए माँ के साथ रहना और पिता के साथ रहना दोनों, कठिन हो जाता है । वास्तव में यह उस बेटे की त्रासदी है जो आधुनिक परिवार में जन्म लेती है । उपन्यास में इस प्रकार के एक वैयक्तिक पक्ष का चित्रण होने पर भी इसके साथ ही साथ परोक्ष रूप में एक सामाजिक पक्ष भी उभरकर आया है । याने शहरी जीवन में व्यस्त स्त्री पुरुष अपनी सन्तान की ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते ।

शहरी महानगरी जीवन में आम व्यक्ति को फुर्सत या अवकाश नहीं मिल पाता कि वह अपने बच्चों की ओर ध्यान दे सके । शकुन, जोशी से विवाह करने के बाद स्वयं कहती है - "सच हम लोग शायद बंटी को मात्र एक साधन ही समझते रहे, अपने अपने अहं, अपनी अपनी महत्वाकांक्षाओं और अपनी अपनी कुण्ठाओं के सन्दर्भ में ही सोचते रहे । बंटी के सन्दर्भ में कभी सोचा ही नहीं ।"[1] इस उपन्यास में पति-पत्नी के बीच हुए तनावों का दुष्परिणाम बंटी को भोगना पडता है । अपने व्यक्तित्व और चरित्र के उचित और ठीक विकास के लिए बच्चों को माँ बाप के साथ रहना आवश्यक है । माँ और पिता के स्नेह से वंचित बंटी की स्थिति विचित्र बन जाती है । वह अपने आप को ही भूल जाता है । वह एक सीमा में समस्या भी बन गया है । अतः उसे "प्रोब्लम चाइल्ड" भी कहा जा सकता है । उसके व्यक्तित्व को माता पिता का तनावपूर्ण और उलझा हुआ व्यक्तित्व अधिक कुंठित करता है । और वह भी बेहद अहमी व्यक्ति बन जाता है । माता पिता की तरह वह भी दूसरे को पराजित करने तथा अपने को विजयी देखने में आत्मसुख का अनुभव करता है ।

पति-पत्नी के जीवन में होनेवाले तनाव, उलझन, कुंठा, अतृप्ति, असन्तोष, घुटन आदि से बच्चे किस तरह प्रभावित हैं, इस सामाजिक सत्य की ओर मन्नू भण्डारी ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है ।

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 177

"अन्तराल" में श्यामा और देव का दाम्पत्य जीवन असफल रहता है क्योंकि दोनों में प्यार नहीं था । इस अतृप्ति और अपूर्णता के कारण श्यामा के मन में कुमार के प्रति आकर्षण पैदा होता है । लेकिन दोनों की पूर्व ज़िन्दगी उनके बीच में दीवार की तरह खड़ी हो जाती है जिसे दोनों लांघ नहीं पाते । अंत में कुण्ठाग्रस्त कुमार श्यामा पर बलात्कार करने की कोशिश करता है । लेकिन श्यामा कुमार के साथ शारीरिक संबंध की अपेक्षा किसी और की खोज करती है ।

श्यामा के जीवन में विवाह के पूर्व कुछ व्यक्तियों द्वारा विवाह और यौन संबंधों को लेकर आघात उत्पन्न हुआ था । इसलिए देव को पति के रूप में पाकर भी वह केवल शारीरिक रिश्ता ही उससे बना पाती है । पति-पत्नी का संबंध वह डेढ़ वर्ष की अवधि में एक क्षण भी अनुभव नहीं कर सकी । श्यामा स्वयं कहती है उसके साथ संबंध को सहने का संबंध मानने की शुरुआत मेरी ओर से हुई थी ।"[1] पति की मृत्यु के बाद श्यामा उसकी स्मृतियों के जाल में भटकती रहती है । फिर भी वास्तव में श्यामा को कुमार के साथ जाने की इच्छा है । वह उपलब्धि का क्षण पाना भी चाहती है । लेकिन एक ओर उसका अहं, दूसरी ओर यह प्रश्न - शारीरिक आकांक्षा की तृप्ति सचमुच एक तृप्ति होगी या निराशा - जिनकी वजह से वह कुमार के बाहुपाश से छिटक जाती है । फिर भी श्यामा कुमार के मोह से उबर नहीं पाती । उसे फिर आने का निमन्त्रण देती है । वह कुमार से कहती है - "मैं जा तो रही हूँ, पर यह

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 216

मत सोचना कि तुम्हारा तिरस्कार करके या जो भी संबंध था उसे तोडकर जा रही हूँ ।"[1] ऐसा लगता है कि उनकी विसंगति चेतना उन्हें ज़िन्दगी से अनासक्त नहीं करती बल्कि उससे ज़्यादा जुडने या उससे चिपकते रहने की प्रेरणा दे रही है जो अवश्य आधुनिक परिवेश का प्रभाव है ।

सामाजिक प्राणियों के बीच कई सार्थक निरर्थक सच्चे, झूठे संबंध हुआ करते हैं । दो सिरेवाली ज़िन्दगी में सदा एक अन्तराल पाया जाता है । विरक्ति और सेक्स के बीच भी एक मानसी प्रेम का अन्तराल हो सकता है । इस सामाजिक सत्य की खोज इस उपन्यास की सार्थकता है । "टूटकर भी टूटने को न स्वीकार करनेवाले आज के जीवन रंग के अभिनेता के मन की अकुलाहट एवं नया संबंध स्थापित करने की चाह में सामाजिक मान्यताओं के अभाव में तडपनेवाले, सिकुडनेवाले हृदयों की वस्तुस्थिति का चित्रण प्रस्तुत उपन्यास में किया गया है ।"[2]

"चित्तकोबरा" में पति के होते हुए भी एक दूसरे पुरुष के प्रति प्रेम और उसके साथ उन्मुक्त यौन संबंध रखनेवाली नायिका मनु का चित्रण है । उपन्यास का नाम भी इसके कथ्य के लिए अनुकूल है । लेखिका ने संस्कृत शब्द चित्त को अंग्रेज़ी के कोबरा से जोडा है । मनु का चित्त उसके अस्तित्व को सर्वदा डँसता रहता है, मनु और रिचर्ड साँप की तरह एक दूसरे के प्रेम में तिरोहित है ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 217
2. डा. शरेशचन्द्र चुल्लीमठ - मोहन राकेश का साहित्य - समग्र मूल्यांकन - पृ. 103

इस उपन्यास में मनु महेश की पत्नी है । लेकिन आपसी समझौते के अभाव में दाम्पत्य जीवन में आये विघटन के कारण मनु अपने जीवन की सार्थकता के लिए रिचर्ड से शारीरिक संबंध स्थापित करती है । लेकिन किसी के प्रति भी मनु के मन में आत्मीयता का भाव नहीं है । वह अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए दोनों के साथ संबंध स्थापित करती है । इस प्रकार मनु एक साथ दोहरी ज़िन्दगी जीती है ।

चित्तकोबरा में एक ऐसी नारी का चित्रण है जो एक ही समय में पति और प्रेमी के साथ जीवन जीती रहती है । और दोनों के साथ उसका हर क्षण जीवंत भी है । उसमें एक को छोडने का और दूसरे को पाने का संघर्ष नहीं है । वह हर वर्तमान को भोगती है और पति या प्रेमी में से एक का चुनाव नहीं दोनों का ही साथ निभाती है । उपन्यास में नारी के विवाहेतर संबंध है जो केवल त्रिकोण नहीं कई कोने हैं जिसमें प्रेमी प्रेमिका दोनों विवाहित है । दोनों के बच्चे हैं और दोनों का वैवाहिक जीवन जारी रखता है । मृदुला गर्ग ने इस उपन्यास में उन्मुक्त रति के माध्यम से नारी की भोगेच्छा और दमित वासना का चित्रण किया है ।

इस उपन्यास के आधार पर पति-पत्नी के रिश्तों की एक अछूती भूमिका उभरकर आती है जहाँ पति और पत्नी के संबंध सेक्स के आधार पर अलग अलग मोडों से गुज़रते हैं । पूर्वमान्य नैतिक अवधारणा का कोई भी स्पर्श पत्नी के उन्मुक्त रति में बाधा नहीं डालता ।

मनु का रिचर्ड के साथ संबंध इसका उदाहरण है । इस संबंध को जानने के बाद भी परंपरागत पुरुष की प्रतिहिंसा की भावना पति में जन्म नहीं लेती और वह दबा दबा सा पत्नी के पीछे पडा रहता है । पत्नी अपनी देहेच्छा की पूर्ति के लिए पर-पुरुष की सहायता स्वीकारने में हिचकती हो नहीं । चित्तकोबरा की यह विचित्र स्थिति पाश्चात्य जीवन के प्रभाव से उभरती हुई मनस्थिति का उदाहरण है ।

2. जीवन की घृणित स्थितियाँ

आठवें दशक का उपन्यास कहीं कहीं सामाजिक जीवन के यथार्थ के परिप्रेक्ष्य को उद्घाटित करते समय घृणित जीवन की स्थितियों का भी उद्घाटन प्रस्तुत करता है । मुरदाघर एक ऐसा उपन्यास है जिसमें महानगरों के नरक में कुत्तों से भी बदतर जीवन बितानेवाले, भूख, पाप, बीमारी और गंदगी के दल दल में फँसी हुई ज़िन्दगी भोगनेवाले मनुष्यों की कथा उभरकर आती है जहाँ ज़िन्दगी अभिशाप का दूसरा नाम है जो पचासि वर्ष की आज़ादी के परिणाम को नई दृष्टि से देखने के लिए हमें बाध्य करती है ।

"मुरदाघर" में समाज के जीवित मुरदों की कथा अंकित है । इसमें जीने के लिए वेश्यावृत्ति करनेवाली औरतें, पेट की भूख से व्यथित लोग, चोरी करने को मज़बूर इन्सान, भीख माँगनेवाले बच्चे आदि का चित्रण है । इस उपन्यास में चित्रित वेश्याओं के लिए शरीर बेचना

चाहत नहीं है बल्कि निर्मम विवशता है । यह उनके जीवन यापन की पद्धति है । जीने की इच्छा के कारण ही ये कंकाल मात्र बनी औरतें सजावट के साथ ग्राहकों के सामने अपने को पेश करती है । बच्चे को जन्म देने के कारण वेश्या दुःखी है । क्योंकि कुछ दिनों तक धन्धा बन्द रहेगा और खाने की रोटी कहाँ से आयेगी ?

ये सारे इनसान प्रतिष्ठा के साथ ज़िन्दा रहना चाहते हैं । लेकिन व्यवस्था की कुरूपता ने इन्हें वेश्या, बटमार, चोर और हत्यारा बना दिया है । अपना घर बसाने के लिए प्रयत्नशील जब्बार हारकर कहता है - "तुम लोग चोर..... सब से बड़ा चोर..... तुम चोर..... तुम्हारा साब लोग चोर..... तुम्हारा मिनिस्टर लोग चोर..... साला तुम सब का मइसा खाता..... ।"[1] यह आक्रोश भरा स्वीकार उन सभी व्यथित व्यक्तियों का है जो केवल जीवित रहने के लिए चोरी करते है । वह तो रात की कालिमा में चोरी करता हुआ पकड़ा जाता है और कैद की सजा पाता है । लेकिन दिन के प्रकाश में चोरी करनेवाले सभ्य चोर तो सामाजिक अभिनन्दन के हकदार बन जाते हैं । भूख की संसार का सब से बड़ा दुःख है । महज ज़िन्दा रहने के लिए जीवन की मज़बूरियाँ मनुष्य को किस कदर कमीना टुच्चा, बेशर्म और बेहया बना देती है इसका यथार्थ चित्रण है इस उपन्यास में ।

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुरदाघर - पृ. 117

सामाजिक सच्चाई के घृणित पक्ष को अपनी संपूर्णता के साथ प्रस्तुत करके गंदी बस्तियों की झुग्गी झोंपडियों की जीवन स्थितियों का जायजा प्रस्तुत करना भी आठवें दशक के उपन्यास का उद्देश्य लगता है ।

3. जातिगत च्युति

जातिगत च्युति को एक प्रमुख विषय के रूप में और सामाजिक जीवन को स्पर्श करनेवाले सत्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास भी आठवें दशक के उपन्यास में दिखाई पडता है । ब्राह्मण कुल में पैदा होकर भंगी के साथ ब्याह करके मेहतरानी बननेवाली निर्गुणिया उस स्थिति का परिचय देती है जहाँ जातिगत स्थिति एक सवाल बनकर उभरती है । समसामयिक ज़िन्दगी में उभरनेवाला एक प्रमुख तत्व है जाति या धर्म का नष्ट होना । बहुत सारे स्त्री पुरुष विवाह के बाद जाति के या धर्म के दायरे से मुक्त होते है और कभी कभी इस मुक्ति का भार मानसिक समस्याओं को भी जन्म देता है । ब्राह्मणों से मेहतरानी बनना और वहाँ तक पहुँचने के लिए अनेक अनैतिक रिश्तों को स्वीकारना निर्गुणिया के लिए एक यथार्थ है और इस यथार्थ को आधुनिक समाज भी स्वयं भोगता है ।

उच्च ब्राह्मण कुल में जन्मी निर्गुणिया "नाच्यौ बहुत गोपाल" नामक उपन्यास की नायिका है । अपने नाना गृह की धार्मिक और ब्राह्मण संस्कृति में पली निर्गुणिया विमातृ गृह की भोगपरक परिस्थितियों में आती है । उसके बाल स्वभाव पर इस नयी परिस्थिति का प्रभाव पडता है । अतः अपने किशोर जीवन में कई पुरुषों के साथ

शारीरिक खेल खेलती है और इस खेल में वह बड़ी चतुराई से अपनी विमाता के दोस्तों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है । लेकिन उसको पचहत्तर वर्षीय मसुरियादीन महाराज से ब्याह करना पड़ता है । इस बूढ़े लखपति और लफंगे आर्यपुत्र के सोने के पिंजरे में दम घुटकर जीवन बितानेवाली निर्गुणिया मुक्ति के लिए मोहना मेहतर के साथ भाग जाती है । मेहतरों के यथार्थ में घुलना मिलना उसके लिए टेढ़ी खीर हो रहा है । नये संस्कार में ढलने की शुरूआत मोहना के नाना के घर उसकी "माई" सुबरातन के कठोर भंगी अनुशासन में शुरू होता है । मोहना मेहतर और उसकी घाघी सुबरातन ने मार मार कर निर्गुणिया से पाखाना साफ करवाया मतलब जलील कर उसे मेहतरानी बनाया । इस प्रकार परम पवित्र ब्राह्मण वंश में जन्म लेनेवाली निर्गुणिया क्रमशः अछूतों में अछूत मेहतरानी बन जाती है । लेखक ने इस मार्मिक वेदना के दर्द को अपने शब्दों में इस प्रकार चित्रित किया है - "मैं, मेरी पत्नी, कोई भी ब्राह्मण - को बलात असवर्ण और अस्पृश्य घोषित कर दिया जाये उसे सत्ताधारी सवर्णों के मल का टोकरा कमर या सिर पर उठाकर चलने के लिए मजबूर कर लिया जाये - निर्गुण ब्राह्मणी जब पारिस्थितियोंवश निर्गुणिया जमादारिन बनी होगी तब उस पर क्या कुछ न बीता होगा ।"[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज़ोरजबरदस्ती से कोई भी मेहतर बन सकता है । निर्गुणिया के संबंध में यह उसकी परिस्थिति-जनित विवशता है ।

4. राजनैतिक धाँधली

वर्तमान समाज में राजनीति का लक्ष्य सत्ता प्राप्ति तक सीमित रह गया है । लक्ष्य प्राप्ति के लिए किसी भी अवैध मार्ग का

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 53

अवलम्बन साधारण सी बात बन गयी है । इस स्थिति ने असामाजिक तत्वों को बढावा दिया । गुण्डागर्दी, सत्ता की राजनीति का अभिन्न अंग बन गयी है । सामाजिक जीवन की मनोवृत्ति में भ्रष्टाचार और अवसरवादिता पनप रहे है । राजनैतिक हत्यायें आज हमें चौंकानेवाली बात नहीं है । ऐसी स्थिति में ईमानदार और आदर्शवादी व्यक्ति पीछे छूट जाता है । असत्य को सत्य, दोषी को निर्दोषी और अनुचित को उचित सिद्ध करने में सक्षम राजनेता आगे बढ जाते हैं । याने राजनीति जनहित की सुरक्षा और जनकल्याण का साधन न रहकर सत्तालोलुपता, अर्थ लिप्सा, और स्वार्थ पूर्ति का साधन बन जाती है । उक्त स्थितियों का चित्रण "कटरा बी आर्जू" और "महाभोज" में है ।

राही मासूम रज ने अपने उपन्यास कटरा बी आर्जू में आपातकाल की भूमिका, आपातकालीन स्थिति और जनता पार्टी के शासन में आने तक के कालखण्ड की स्थिति का यथार्थपरक चित्रण किया है । इसमें एक मामूली कटरे के जनजीवन के द्वारा आपातकाल के बीभत्स और भयानक रूप का चित्र प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास के फैसला नामक अध्याय में स्वयं उपस्थित होकर लेखक ने इन्दिरा गाँधी, आपातकालीन स्थिति और कांग्रेस सरकार की आलोचना की है । "कांग्रेसी सत्ता और पूँजीवाद के आपसी संबंधों, उनके भीतर की समझौतावादी इच्छाओं और एक दूसरे की सहायता करनेवाली निश्चयात्मक स्थितियों का विस्तृत चित्रण इस उपन्यास में किया गया है ।"[1]

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 130

"कटरा बी आर्जू" में सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी, आपातकालीन स्थिति को आदर्शात्मक स्थिति और आम जनता के लिए दिलासा देनेवाली साबित करने की कोशिश करती है । लेकिन कांग्रेस की सत्तालोलुपता और कुछ स्वार्थी नेताओं की नीतियाँ सामान्य जन जीवन को पुलिस अत्याचार और अन्य दमनकारी वृत्तियों से दुभर बना देती है । रेडियो और समाचार पत्र जैसे माध्यमों से यह प्रचार किया जाता है कि गरीबों की उन्नति के लिए कदम उठाया जा रहा है और शोषकों को कठिन दंड दिया जा रहा है । लेकिन इसके विरुद्ध गरीब लोग सताये जाते हैं और शोषक वर्ग तरक्की करता दिखाई देता है । विपक्ष को चुपकर दिया जाता है ।

"कटरा बी आर्जू" के देशराज, बिल्लो, भोलू पहलवान, शम्सू मियाँ शहनाज़ महनाज़ मास्टर बद्रुल हसन आदि के सपने और जीवन इमरजेन्सी के दौरान कुचल दिये जाते हैं । आशाराम प्रगतिशील विचारोंवाला पत्रकार है जो इमर्जेन्सी के दमन चक्र से पीडित होकर कांग्रेस में शामिल होने के लिए विवश हो जाता है । मास्टर बद्रुल हसन नसबंदी अभियान का शिकार हो जाता है तथा बिल्लो शहर की सुन्दरता बढाने के अभियान का शिकार हो जाती है । आकाशवाणी न्यूस रीडर प्रेमा नारायण का पुलिस के हाथ बलात्कार होता है । इस प्रकार पुलिस अत्याचार, जबरदस्ती से नसबंदी, शहर की सुन्दरता बढाने के अभियान में गरीबों की झोंपडियों को गिराकर उन्हें निराश्रय करने की वृत्ति और विपक्षी नेताओं और पत्रकारों को जेल में बंद कर पीडित करने की निष्ठुरता प्रजातन्त्र पर प्रश्नचिह्न लगा देती है ।

आपातकाल के बाद विपक्षीय दल चुनाव के द्वारा सत्ताधारी बन जाता है । लेकिन उसकी मनोवृत्ति में कोई उल्लेखनीय अंतर दिखाई नहीं देता, और कुर्सी की लड़ाई में टूटकर यह सिद्ध करता है कि विपक्ष के आदर्श भी खोखले है ।

महाभोज में मन्नू भण्डारी ने वर्तमान राजनेताओं की घिनौनी वृत्तियों का चित्रण किया है । सत्तालोलुप राजनेता हमेशा सत्ता हथियाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा में लगे रहता है । लेकिन सत्ताधारी हर एक अवसर का इस्तेमाल अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए करता है । इस बात पर सत्ताधारी और विपक्षी दलों में कोई अन्तर नहीं है । महाभोज में हम देखते हैं कि हरिजन युवक बिसू की हत्या उपचुनाव के अवसर पर होती है तो विपक्षी दल के नेता सुकुलबाबू इस हत्या को अपने लिए एक वरदान समझता है और जनहित अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करता है । मुख्यमंत्री दा साहब इसे आत्महत्या साबित कर जनता के ध्यान इससे हटाकर सत्ता को बनाये रखने की कोशिश करता है । मुख्यमंत्री शोषक ज़मीन्दारों और हत्यारों को संरक्षण देता है । विपक्षी दल को बिसू की हत्या पर दुःख न होकर अनुकूल अवसर मिल जाने की खुशी होती है । इनकी वृत्तियाँ सूचित करती हैं कि इन दोनों दलों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने साल बाद भी ज़मीन्दारी प्रथा का पूर्ण रूप से उन्मूलन नहीं हुआ है । गरीब और दलित किसान एवं मज़दूरों का शोषण जारी है । महाभोज में ठाकुर जोरावरसिंह, शोषण

के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले दलित खेतिहर मज़दूरों की झोंपडियों पर आग लगा देता है । इसके विरुद्ध प्रमाण जुटानेवाले बिसू की हत्या कर डालता है । मुख्यमन्त्री दा साहब, जोरावर को संरक्षण प्रदान करता है क्योंकि पूरे एक गाँव के वोट उसके हाथों में हैं । गाँव के लोग उससे इतने आतंकित हैं कि सब कुछ जानकर भी कोई उसके विरुद्ध गवाही नहीं दे पाता । बिसू की हत्या का ईमानदारी से जाँच करनेवाला पुलिस अधिकारी सक्सेना मुअत्तल कर दिया जाता है । जबकि हत्या को आत्महत्या साबित करनेवाला डी.आई.जी, आई.जी बना दिया जाता है । बिसू की हत्या के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले बिन्दा पर बिसू की हत्या का आरोप लगाकर उसे जेल में ठूँस दिया जाता है ।

महाभोज में चित्रित सरोहा गाँव की ज़िन्दगी और हरिजन खेतिहर मज़दूरों पर ज़मीन्दार का आतंक, अत्याचारी और हत्यारे ज़मीन्दार को पुलिस और मुख्यमन्त्री की ओर से संरक्षण, ईमानदार पुलिस अफ़सर की मुअत्तली, निरपराधी को हत्यारा कहकर जेल में बंद करना आदि राजनीतिक धाँधली और वर्तमान प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में गरीब लोगों की असुरक्षा की ओर संकेत करती है । सत्ताधारियों से मिलकर सच को झूठ और झूठ को सच साबित करनेवाली दायित्वहीन पत्रकारिता भी इसी का उदाहरण है । महाभोज वह अर्थ लेकर हमारे सामने आता है, जिसमें आम आदमी को नोच नोचकर खाने के लिए टूट पडनेवाले राजनैतिक गीदड उस देश की प्रजातन्त्र नीति को शव बनाकर खाने में तुले हुए हैं ।

इन दोनों उपन्यासों में चित्रित स्थितियों से पता चलता है कि राजनीति में आदर्श का ज़माना बीत गया है । और राजनीति का लक्ष्य जनसेवा से आत्मसेवा हो गया है । प्रजातन्त्र नाम खोखला रह गया है । राजनैतिक दलों की नीति सत्ता हथियाने और उसे बनाये रखने की रही है । इसकेलिए किसी भी असामाजिक तत्व से समझौता करने से वे हिचकते नहीं । सत्ता हथियाने की राजनीति में प्रतिष्ठित मूल्यों का कोई महत्व नहीं रह गया है । यह भी नहीं व्यावहारिक राजनीति में उनकी अवहेलना भी होती रही है ।

5. वर्ग संघर्ष की स्थिति

वर्ग संघर्ष के पश्चात ही समाजवादी समाज की रचना संभव है । यह संघर्ष समाज के वर्गों के मध्य होता है और ये वर्ग आर्थिक स्थिति पर आधारित हैं । एक वर्ग पूँजीपति है जिसके पास उत्पादन प्रणाली की डोर है और दूसरा वर्ग सर्वहारा वर्ग है जिसके पास केवल मेहनत करने के लिए दो हाथ हैं । यह वर्ग अधिकार हीन है । इस असहायवर्ग का पूँजीपति वर्ग शोषण करता है । इस प्रकार की स्थिति का चित्रण आठवें दशक के उपन्यासों में प्राप्त होता है और इसके सशक्त उदाहरण है "प्रतिबद्ध" और "समय बीता हुआ" ।

प्रतिबद्ध में उच्चवर्ग के शोषण को समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील हरिलाल और उसके साथियों का चित्रण है । मिल मालिक मज़दूरों का तरह तरह से शोषण करते हैं । कम मज़दूरी देकर कठिन काम

कराते हैं । इसलिए मज़दूर लोग हमेशा जीवन की सुविधाओं से वंचित रहते हैं । अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे आवाज़ उठाते हैं तो पूँजीपति मिल मालिक गुण्डों को खरीदकर उन्हीं के द्वारा हड़ताल करनेवाले मज़दूरों को मौत के घाट उतरवा देते हैं । उनके षड्यंत्रों से परेशान मज़दूर लोगों की हालत बुरी हो जाती है । प्रशासक एवं सरकार और पुलिस अधिकारी भी इन पूँजीपतियों का ही साथ देते हैं । पूंजीवादी प्रशासन से लडना इसलिए मज़दूरों के लिए बडे जोखिम का काम हो जाता है । फिर भी उपन्यास का हरिलाल और उनके साथियों ने मज़दूरों की एकता को कायम रखने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न करते रहते हैं । लेकिन मिलों की तानाशाही व्यवस्था मज़दूरों की आर्थिक माँगों को ठुकराकर उनके संगठन की एकता को तोडने में सफल हो जाती है । इस प्रकार पराजित होने के बाद भी मज़दूर अपनी एकता के बल पर संगठित होकर बेहतर ज़िन्दगी की ज़रूरी माँगों की पूर्ति के लिए कटिबद्ध होते हैं ।

"समय बाता हुआ" उपन्यास में भी श्रमिक संघटन की समस्या और पूँजीपति द्वारा मज़दूर वर्ग के शोषण का चित्रण है । इस उपन्यास का नायक आनन्द व्यवस्था द्वारा नियुक्त लेबर वेल्फेयर आफीसर है । इसलिए व्यवस्था उसको अपने स्वार्थ साधन के हथियार के रूप में इस्तेमाल करना चाहती है । लेकिन श्रमिकों के कल्याण में विशेष रुचि रखनेवाला आनन्द व्यवस्था का स्वार्थ नीति का माध्यम न बनकर मज़दूरों की भलाई के लिए प्रयत्न करता है । वह नौकरी से निष्कासित होता है । व्यवस्था को इससे भी सन्तोष नहीं होता । वह आनन्द पर घिनौने किस्म का आरोप लगाती है । आनन्द के मनोबल को तोडने के लिए व्यवस्था

नाना प्रकार का षड्यंत्र रचती है । लेकिन आनन्द सब को साहस के साथ सामना करता है और श्रमिकों का एक नया संघटन भी तैयार करता हैं । इसके परिणामस्वरूप व्यवस्था बडी चतुराई के साथ आनन्द की हत्या कर देती है । आनन्द की हत्या के बाद उसके साथी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करते रहते हैं ।

इन दोनों उपन्यासों के मज़दूर सफल तो नहीं हो पाते हैं फिर भी अपने संघर्ष को ज़ारी रखना ज़रूरी समझते है । उन्हें आशा है कि सारी प्रतिकूल पारिस्थितियों की दीवारों को तोडकर एक सुनहली रोशनी उनके पास आयेगी ।

6. अराजकता की स्थिति

आठवें दशक के उपन्यास में समाज में व्याप्त अराजकता की स्थिति का भी प्रभावात्मक चित्रण प्राप्त होता है । कहीं कहीं ऐसी कथ्यात्मक स्थितियों का उद्घाटन हुआ है जहाँ हम यह देखते हैं कि समाज के निम्न वर्ग के लोगों पर गुण्डों और पुलिस की और धर्म के, धन के ठेकेदारों का एकदम आक्रमण होता है । जिसके परिणामस्वरूप अरक्षित स्थिति का जन्म होने लगता है । यहाँ मनुष्य जानवरों से भी गयी गुज़री स्थिति में जीवन बिताने के लिए बाध्य होते हैं और उनकी सहायता के लिए न सरकार आती है न राजनेता न पुलिस भी ।

लाल पॉली ज़मीन में गोविन्द मिश्र ने छोटे शहरों की मूल्यभ्रष्ट, संस्कारहीन, अराजकतापूर्ण और उखड़ी हुई ज़िन्दगी का चित्रण किया है । इसमें वर्णित कस्बानुमा शहर में पाठक का साक्षात्कार किशोरावस्था के बहुत अधिक छात्रों से होता है जो लड़कियों से छेड़खानी करते हैं, दादागिरी करते हैं और शहर में आतंक फैलाते हैं । पुलिस विभाग भ्रष्ट है । बोस साहब जैसे जननेता धूर्तता और कार्यकुशलता से लैस हैं और पुलिस और गुण्डों की सहायता से अपना नेतृत्व बनाये हुए हैं । मास्टर कौशल और मास्टर कंठी जैसे ईमानदार और कर्तव्यपरायण व्यक्तियों की एक नहीं चलती । दिन दहाड़े लड़कियाँ भगा ली जाती है । कमज़ोर लोग पिट दिये जाते हैं, आन्दोलन के नाम पर तोड़फोड़ किया जाता है, परीक्षाओं में नकल करते हैं और मना किये जाने पर शिक्षकों पर छुरा भौंक देते हैं । तात्पर्य यह है कि पूरी की पूरी युवा पीढ़ी लक्ष्यहीन, विवेक शून्य और दिग्भ्रान्त हो गयी है । "मार पीट लड़ाई झगड़े, गाली गलौज की खुशबू को ढोते हुए वहाँ की हवा के झोंके उठते थे और इधर से उधर जाते थे ।"[1] इस उपन्यास का नायक केशव भी इन परिस्थितियों में जी रहा है - न दोस्त, न कोई समझनेवाला, न घर में न बाहर, न पड़ोस, अपमान और विवशता का सतत बोध, आत्मग्लानि की निरन्तर कचोट, शारीरिक और मानसिक यातनायें । डा. रामविनोद सिंह के शब्दों में "पूरे उपन्यास में एक सिहरानेवाली कारुणिक स्थिति मिलती है । दो वर्गों के आपसी संबंध का प्रश्न हो या औरतों के साथ किया गया बलात्कार का प्रसंग हो इन सभी प्रसंगों में दयनीय और यातनादायक पीड़ा मिलती है ।"[2] याने लाल पॉली ज़मीन एक ऐसी स्थिति का बयान है जहाँ अराजकता अपना पराकाष्ठा को छू जाती है ।

---

१. गोविन्द मिश्र - लाल पॉली ज़मीन - पृ. 57

२. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 166

इसमें प्रतिपादित अराजकता स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में धीरे धीरे पनपनेवाली अराजकता का स्वरूप उभारकर रखती है । वैसे उपन्यास का नायक केशव की ज़िन्दगी में व्याप्त अराजकता भी इसका प्रतीकात्मक स्वरूप प्रस्तुत करती है । परिवेश में व्याप्त अराजक स्थिति, अनैतिकता और भ्रष्टता व्यक्ति को और व्यक्ति से जुड़े हुए जीवन बोध को विषाक्त कर देती है । इसके परिणामस्वरूप नई पीढ़ी की मानसिकता पर जो प्रहार होता है वह विचारणीय बन जाता है ।

उपर्युक्त स्थितियों के विवेचन के पश्चात आठवें दशक में उभरती हुई सामाजिक स्थितियों का जो स्वरूप उभरता है वह वैविध्यात्मक है । एक ओर परिवार की सीमारेखाओं में आयी हुई दरारों का वर्णन है, दूसरी ओर वर्ग संघर्ष, सामाजिक अराजकता, उत्पीडन, राजनैतिक धाँधली, आपातकालीन परिवेश और दलगत राजनीति के घिनौने स्वरूप आदि का सशक्त चित्रण मिलता है । आठवें दशक के समाज में फैली हुई स्थितियों का सशक्त चित्र प्रस्तुत करने में ये रचनायें सार्थक भूमिका अदा करती है । इस दृष्टि से आठवें दशक का उपन्यास यथार्थ स्थितियों के अधिक निकट है । इस यथार्थ के बीच से उभरनेवाली मानवीय चीत्कार का हृदय भेदक स्वर उभारकर रखने में रचनाकारों ने सजगता अपनायी है । इस प्रकार आठवें दशक का उपन्यास यथार्थ के प्रति अधिक जागरूक हुआ है । काल्पनिक स्थितियों के आधार पर कथ्यात्मकता को उभारने की कोशिश से मुक्त होना ही इस यथार्थ के प्रति जागरूकता का प्रमाण है ।

पात्र संकल्पना में आये परिवर्तन

आठवें दशक के उपन्यासों के अध्ययन करते समय पता चलता है कि औपन्यासिक पात्र संकल्पना में बड़ी सीमा तक परिवर्तन का विधान हुआ है । पूर्व दशकों की कथ्यात्मकता से भिन्न कथा बोध को स्वीकारने के कारण यथार्थ का जो स्वरूप इन उपन्यासों में उभरता है वह परिवेशजन्य यथार्थ का रूप धारण करता है । परिवेशजन्य यथार्थ किसी विशेष स्थित बोध से, कालबोध से, प्रतिक्रिया बोध से जुड़कर रूपायित होता है । इस कारण यथार्थ का जो स्वरूप पारिस्थितिजन्य स्थितियों में उभरता है वह न तो आदर्शात्मक होता है न ही परंपरागत । आठवें दशक के उपन्यासकारों ने अधिकतर परिवेशजन्य यथार्थ के स्वरूप को आयामित करने का प्रयास किया है । पारिस्थितिजनित सत्य कई ऐसे तथ्यों से जुड़ता है जिनकी गहराई में मूल्य परिवर्तन की स्थितियाँ, अर्थ प्राप्ति की तलाश, पारिवारिक विघटन की स्थितियाँ और राजनीतिक और सामाजिक आवश्यकताओं की मजबूरियाँ प्रतिबिंबित होता है ।

इस कारण पात्र संकल्पना में परिवर्तन लाने के लिए आठवें दशक का उपन्यासकार बाध्य सा हो जाता है । पूर्व दशकों की स्थितियों में जीवित रहनेवाले पात्र आठवें दशक की स्थितियों में जीवित नहीं रह सकते । इस कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के लगभग बाद के उपन्यासों में दिखाई पड़नेवाले पात्रों से अलग अस्तित्व रखनेवाले पात्र आठवें दशक के उपन्यासों में दिखाई पड़ते हैं । अधिकतर ये पात्र उन बातों को स्वीकार कर गये हैं जिनका स्वीकार पूर्व दशकों में संदिग्ध माना जाता है । उदाहरण के लिए झूठ बोलना, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, धाँधली, अवैध रिश्ते आदि पूर्व दशकों के लेखकों के लिए पूर्ण रूप से स्वीकार्य नहीं बन

पाये हैं । परन्तु आठवें दशक का उपन्यासकार और उसका पात्र इन सभी बातों को स्वीकृत सत्य के रूप में मंजूरी देने के लिए बाध्य हो जाते हैं । इसलिए परंपरागत रूप से देखे जाने पर भ्रष्टता, अवैधता, अनैतिकता, मनमानापन और उच्छृंखलता को प्रश्रय देनेवाले पात्रों का रूप ग्रहण करने के लिए आठवें दशक के पात्र बाध्य है । वस्तुतः दूसरी दृष्टि से देखने पर ये सारे पात्र समसामयिक पारिस्थितियों से जनित यथार्थ पर आधारित हैं जिनको अनदेखा करना आठवें दशक के रचयिता के लिए असंभव है । परिणामस्वरूप आठवें दशक के उपन्यासों की पात्र संकल्पना में बहुत सारे परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं ।

1. आत्मता की तलाश में लगे हुए पात्र

आज के आधुनिक यान्त्रिक युग में भावनात्मक संबंध रखना मूर्खता का पर्याय समझा जाता है । इसलिए हम प्रायः संबंधों को भावनाहीन और शिथिल देखते हैं । अब पत्नी पति की दासी नहीं है । अतः इस नयी प्रगति से पति-पत्नी में तनाव और उलझनें स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है । शहर में प्रायः जहाँ पति-पत्नी के अहं टकराते हैं वहाँ सम्बन्ध बिखरने लगते हैं । आठवें दशक में दाम्पत्य जीवन में अहं के अतिरिक्त पुरुष या स्त्री के अन्य स्त्री या पुरुष के संबंध के कारण भी दाम्पत्य जीवन विघटित हो रहा है । इस प्रकार के दाम्पत्य विघटन और आत्मता की तलाश में लगे हुए पात्र "आपका बंटी," अन्तराल पिंजरा आदि उपन्यासों में दृष्टिगत होते हैं ।

आपका बंटी में शकुन अजय की पत्नी है । लेकिन अहं के कारण वे अपने वैवाहिक जीवन से सन्तुष्ट नहीं हो पाते । शकुन समझ नहीं पाती कि उसकी क्या गलती है और अजय उससे क्या चाहता है - "सब लोग केवल उससे चाहते ही हैं और वह उनकी चाहनाओं को पूरती रहे यही एक मात्र रास्ता है उस के लिए, बस कुछ न चाहे, जहाँ चाहती है, वहीं गलत क्यों हो जाता है ? ऐसा अनुचित असंभव भी तो उसने कुछ नहीं चाहा एक सहज सीधी ज़िन्दगी जिसमें रह कर वह कम से कम यह तो महसूस कर सके कि वह ज़िन्दा है । केवल सूरज डूब उठाकर ही उसे रात होने और बीतने का एहसास न कराये उसके अतिरिक्त भी कुछ हो ।"[1] वैवाहिक जीवन में होनेवाले दुःख पीडा और कष्टों को सहकर पति के साथ समझौता करके, एडजस्ट करके जीने के लिए पत्नी बाध्य है । लेकिन आज किसी भी प्रकार के एडजस्टमेंट के लिए पत्नी तैयार नहीं है । आपका बंटी में अजय और शकुन समझौता नहीं कर पाते हैं और विवाह विच्छेद कर लेते हैं ।

अन्तराल में स्त्री पुरुष की मानसिक ग्रन्थियों के कारण उत्पन्न उलझनों और संबन्धों के विघटन का चित्रण राकेश ने श्यामा और देव के माध्यम से किया है । वे दोनों अहंवादी थे और इसलिए दोनों का दाम्पत्य जीवन असफल रहता है । अन्तराल में श्यामा के जीजाजी और दीदी के संबंध भी बिखरे हुए है । उसके जीजाजी बताते हैं - "मुझे तो लगता है कि मन की गहराई में हम दोनों एक दूसरे के दुश्मन हैं जो एक दूसरे से किसी चीज़ का बदला चुकाने में लगे रहते हैं ।"[2] उसके जीजाजी

---

1. मन्नू भण्डारी - आपका बंटी - पृ. 167
2. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 126

उसकी दीदी को केवल माँस की पुतली समझते हैं । यहाँ भी वैवाहिक जीवन में आपसी समझ के अभाव और भावनाहीनता के कारण कटुता आ गयी है ।

"चित्तकोबरा" में समझौते के अभाव में मनु और महेश का वैवाहिक जीवन xxxxxxxxxxxxxx असफल हो जाता है । इस अतृप्ति के कारण मनु अपने जीवन की सार्थकता के लिए तीसरे की खोज करती है और रिचर्ड से शारीरिक संबंध स्थापित करती है । अस्मिता की तलाश में भटकनेवाली मनु इस उपन्यास में एक विशिष्ट मानसिकता का उदाहरण प्रस्तुत करती है ।

पात्रों की विशिष्ट मानसिकता पर विचार करते समय यह स्पष्ट होता है कि आठवें दशक के उपन्यासों के पात्र पूर्व पात्रों से भिन्न अस्तित्व लेकर उभरते हैं । अजय हो या शकुन, देव हो या श्यामा, महेश हो या मनु ये सभी पात्र अस्मिता की तलाश में लगे हुए प्रतीत होती है । नारी हो या पुरुष जीवन की सीमारेखाओं के अंदर आबद्ध होकर भी अपनी अस्मिता को ढूँढने के लिए मज़बूर है । वैसे संबंधों के बीच जुडकर भी वे अपने में अलग अलग इकाइयाँ है । व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा, आशा-आकांक्षा, सार्थकता और निरर्थकता का भाव, यौन संबंधों की सीमा, अपनी निजी आकुलता अर्थबोध की समस्या, अहं की ग्रन्थि और जीवन की यान्त्रिक मनस्थिति ये सब कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनके बीच से गुज़रते हुए व्यक्ति कहीं अपनी अस्मिता को खो बैठता है । अस्मिता की तलाश के बीच खोई हुई चीज़ को पाने की इच्छा नई व्याकुलता और कुण्ठा को जन्म देती है । और उसका परिणाम अन्तर्मुखी जीवन की ओर कहीं अग्रसर

होता है और कहीं बाहरी विस्फोट की ओर । विस्फोट के परिणाम स्वरूप सम्बन्ध विच्छेद जन्म लेते हैं तो अन्तर्मुखता के परिणाम नये रिश्तों की खोज में परिसमाप्त होते हैं । अजय शकुन, महेश और मनु इन दोनों स्थितियों का सही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । यद्यपि बाहरी दृष्टि से ये पात्र अस्वाभाविकता के शिकार भले लगे परन्तु आन्तरिक स्थितियों के विश्लेषण से यह मालूम होता है कि उनके संबंधों की और उनके टूटने की स्थितियाँ बिलकुल सही है ।

2. क्रोध, विद्रोह और आक्रोश से जुड़े हुए पात्र

आठवें दशक के उपन्यास के कुछ एक पात्र क्रोध, आक्रोश और क्रान्ति से जुड़ी हुई मानसिकता के परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाले है । आजादी की प्राप्ति के चालिस वर्ष बाद भी परिवर्तन के सुपरिणाम जब समाज में परिलक्षित नहीं होने लगे तो इस तरह के आक्रोश का जन्म लेना स्वाभाविक ही है । वर्ग संघर्ष के सीमित दायरे के अंदर इस आक्रोश को बन्द करना उचित नहीं है । यह विरोध और क्रान्ति की इच्छा नई पीढी की मुक्ति की इच्छा है । इसे प्रगतिवादी मानसिकता का परिणाम मात्र मानकर अलग कर देना उचित नहीं है । यह वह आवाज़ है जो पीडित, दलित और शोषित जनता की आक्रोश से कम नहीं है ।

महाभोज का बिसू हो या बिन्दा, प्रतिबद्ध का हरिलाल हो या जोगीलाल, समय बीता हुआ का आनन्द हो या रामभजन इसी के उदाहरण के रूप में हमारे सामने आते हैं । सत्ता और व्यवस्था के द्वारा

किये जानेवाले अन्याय और उसकी दमन नीति का भार सहनेवाले ये पात्र मृत्यु के शिकार बनकर भी अपने आक्रोश को समाज के सामने एक महास्वर की पूर्व ध्वनि के रूप में छोड जाते हैं ।

हरिजन बिसू मारा जाता है । बिन्दा को फँसाया जाता है और इसके पीछे राजनैतिक खेल जारी रखता है । बिसू और बिन्दा उन अनेक मूल्यहीन मुहरों के समान है जिनको लेकर राजनीति के शतरंज के खेल खेले जाते हैं । हरिजनों के प्रति किये जानेवाले अन्याय की कहानी कहने के लिए सिर्फ एक पुलिस अफसर सक्सेना और रुक्मा ही रह जाते हैं । उनकी आवाज़ दिल्ली तक पहुँचे या नहीं इसमें भी संदेह है ।

उधर "समय बोता हुआ" का आनन्द मज़दूरों के प्रति किये जानेवाले शोषण के विरुद्ध सत्ता से लडनेवाला अफसर है जिसको कई साजिशों का शिकार होना पडता और मृत्यु का वरण करना पडता है । आनन्द की निष्ठा और कर्मण्यता यह सिद्ध करती है कि युवापीढी के अंदर अब भी न्याय और नीति दिलवाने की मानसिकता है और उस के लिए जान की कुर्बानी देने की भी क्षमता है ।

"प्रतिबद्ध" का हरिलाल मज़दूरों की भलाई के लिए संपूर्ण रूप से प्रतिबद्ध रखता है और संघर्ष के पथ पर लगातार बढता रहता है । अपनी भलाई की चिन्ता किये बिना श्रमिक वर्गों की संघटन

करनेवाला हारलाल वह प्रतीक है जो जनशक्ति के उदय की संभावना को सूचित करता है । और एक प्रतिबद्धात्मक व्यवस्था का स्वप्न देखता है ।

इस प्रकार महाभोज, समय बीता हुआ और प्रतिबद्ध में आनेवाले पात्र विशेष मानसिकता के आधार पर रूपायित हुए हैं । उनके कार्यकलाप आठवें दशक की सामाजिक स्थितियों के बीच उभरनेवाले आक्रोश और क्रान्त के स्वर मुखारित करते हैं । परन्तु इस आक्रोश और क्रान्ति का परिणाम क्या हो सकते हैं इसके बारे में उपन्यासकार स्वयं संदिग्ध है । इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि यह परिवर्तन की सूचना अवश्य देते हैं ।

3. नैतिकता के प्रति निषेधात्मक दृष्टि रखनेवाले पात्र

वर्तमान युग में फैले हुए भ्रष्टाचार, अराजकता और अनैतिकता के फलस्वरूप आज के व्यक्ति में निराशा और विफलता की प्रवृत्तियाँ बढ़ी है । जब व्यक्ति की इच्छायें पूर्ण न हो, चाहे वे भौतिक हो मानसिक हो, या यौन संबंधी हो, वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है । उसके मन में ग्रन्थियाँ उत्पन्न होने लगती है । वह विवेक खो बैठता है और अनैतिक आचरण करने लगता है । आठवें दशक के उपन्यासों में इस प्रकार के अनेक पात्र हैं जो अनैतिकता के शिकार है ।

अन्तराल में चित्रित सीमा वर्तमान को पूरी तरह भोगने में विश्वास करती है । वह जीवन में स्वच्छंदता को महत्व देती हुई आज को "आज" की तरह जीती है । वह अपने आप को अपने किसी भी रूप को छिपाकर रखने में विश्वास नहीं करती । वह स्वतन्त्र जीवन जीने की हिमायती है । वह अपने पुरुष मित्रों के साथ मौज मजा करके शराब के नशे में रात देर तक घर लौटती है । सीमा का जीवन दर्शन खाने पीने और मौज उडाने का है जो अत्याधुनिक कही जानेवाली किसी भी स्त्री का जीवन दर्शन है ।

"चित्तकोबरा" में मृदुलागर्ग की नायिका मनु विवाहित होते हुए भी एक अन्य पुरुष के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करती है । वह हमेशा कामोत्तेजना से आपूरित रहती है और शारीरिक सुख की पूर्ति में लगी रहती है । मनु का कथन है "मेरा शरीर स्वयं चेतना है, एहसास है ।"[1] याने पति के होते हुए भी अन्य पुरुष के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करना वह बुरा नहीं मानती ।

स्त्री पुरुष संबंधों की पुनर्व्याख्या आवश्यक होती जा रही है । सीमा और मनु के आचरण यह सिद्ध करते हैं कि नैतिकता एक ऐसी ओढनी चीज़ है जिसके अंदर दमघुटकर जीना उनके लिए स्वीकार्य नहीं । दूसरे शब्दों में शारीरिक आवश्यकताओं के सामने और जीवन की सहज ज़रूरतों के सामने नैतिकता अनैतिकता का कोई फरक ही नहीं रह जाता ।

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 112

उधर मुरदाघर के पात्रों की मानसिकता का संबंध नैतिकता नाम की चीज़ से कहीं भी नहीं जुडता । क्योंकि भूख और रोटी की समस्या के सामने घृणित जीवन बितानेवाले अभिशप्त पात्रों के लिए नैतिकता नाम की कोई चीज़ होती ही नहीं । मुरदाघर में ऐसे पात्रों की भरमार है जो संस्कृत लोगों की दृष्टि में "वेश्या", "चोर", "भीखमंगा", "जूठन खानेवाला" और "रंडियों के व्यापार करनेवाला" होता है । रंडी शब्द और वेश्या शब्द नैतिकता के विरोधी शब्द है परन्तु जिन बस्तियों में झुग्गी झोंपडियों में पेट की भूख मिटाने के लिए शरीर का सौदा करने के लिए मज़बूर औरतों के लिए नैतिकता, सत्य, झूठ, प्यार, नफरत, दोस्ती और दुश्मनी जैसे शब्दों का कोई महत्व नहीं है । मुरदाघर उन लाशों का घर है जहाँ लोग ज़िन्दा रखकर भी लाशों से बदतर बने रहते हैं ।

५. सत्ता की दुहाई देनेवाले पात्र

जनता की भलाई और देश की उन्नति के लिए परिश्रम करना राजनैतिक नेताओं का कर्तव्य है । लेकिन आज के नेता लोग सत्ता या अधिकार प्राप्त करने पर ये सब भूल जाते हैं और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी भी नीच काम करने के लिए तैयार भी हो जाते है । सत्ता या अधिकार प्राप्त करना उनका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है । क्योंकि आजकल राजनीति पैसा कमाने का और समाज में उन्नत स्थान प्राप्त करने का एक माध्यम बन गयी है । इसलिए एक बार सत्ता या कुर्सी मिलने पर किसी भी कारणवश उसी को छोडना वे नहीं चाहते । आज सत्ता का सीधा संबंध वैभव से जुड गया है और इसलिए आज की

राजनीति कुर्सी के पीछे का खेल मात्र रह गया है ।

"महाभोज" में दा साहब, सुकुलबाबू, अप्पा साहब, राव चौधरी आदि उन राजनीतिज्ञों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो तरह तरह के चेहरे लिये सत्ता की लड़ाई लड़ रहे हैं । सब से खतरनाक शैतान वह होता है जो ऊपर से सन्त दिखता है । दा साहब सन्त के एक नहीं अनेक चेहरे एक पर एक चढ़ाये रहते हैं जिसके नीचे उनकी शैतानियत खुलकर खेलती है । लेखिका ने स्वयं उनके महत्वपूर्ण व्यक्तित्व का परिचय इस प्रकार दिया है - "शहर के सब से महत्वपूर्ण व्यक्ति दा साहब अपने निजी कमरे के एक कोने में अकेले बैठे हैं - मौन गंभीर कुछ कुछ चिन्तित और परेशान भी । पर चिन्ता है कि उसके कोई आसार बाहर नहीं है । चेहरे की सौम्यता ने उसे भीतर ही ठेल रखा है । फिर भी इतना ज़रूर लग रहा है कि गहरे में डूबे हुए हैं । हाँ बीच बीच में फोन की घंटी बजती है तो कुछ क्षणों को उबर आते हैं । पर बात में कहीं कोई हड़बड़ी या परेशानी नहीं । वहाँ उनका अपना खास अन्दाज़ कम शब्द, सीधी आवाज़ । बात को अपने से अपने मन में होनेवाली उथल पुथल से काटकर भी किया जा सकता है - यह गुर कोई दा साहब से सीखे । सीखना चाहे तो इतनी विशेषतायें हैं दा साहब में कि सीखनेवाले मज़े में पूरी ज़िन्दगी खपा सकता है ।"[1]

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 10

कथनी और करनी में आकाश पाताल का अन्तर दिखानेवाला दा साहब अनैतिकता के मध्य अपनी नैतिकता बनाये हुए है । "लेकिन मैं क्यों किसी के विवेक अविवेक पर टिप्पणी करूँ बस अपने कर्तव्य पर चल सकूँ और अपनी आत्मा की आवाज़ को कभी अनसुना न करूँ, यही बहुत है मेरे लिए । गीता से यही एक तो सीख ली है मैं ने ।"[1]

दा साहब लखन को समझाते हुए कहते हैं - "आवेश राजनीति का दुश्मन है । राजनीति में विवेक चाहिए । विवेक और धीरज ।"[2]

इस प्रकार दा साहब विवेक और धैर्य के साथ अन्याय और अत्याचार के मार्ग में चलकर सत्ता बनाये रखने में प्रयत्नशील मुख्यमंत्री का चित्र प्रस्तुत करता है ।

भूतपूर्व मुख्यमंत्री और विरोधी दल के सशक्त नेता सुकुल बाबू का चरित्र भी दा साहब के चरित्र से भिन्न नहीं है । सुकुलबाबू के व्यक्तित्व का चित्रांकन करते हुए लेखिका लिखती है - साँवला रंग, नाटा कद, थोडा थुलथुल शरीर । वे दा साहब की तरह सौम्य संयत नहीं थे । सुरा सुन्दरी से किसी तरह का परहेज नहीं । पर यही

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 36
2. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 18

कहना चाहिए दोनों के अनुरागी थे । जग के "सकल पदारथ" न पानेवाले करमहीनों में वे अपने को शुमार नहीं करवाना चाहते । एक दम मस्त फक्कड आदमी थे सुकुल बाबू ।"[1]

एक चतुर राजनीतिज्ञ अच्छे वक्ता विरोधियों को काटने में माहिर और दीर्घ दृष्टा व्यक्ति के रूप में सुकुल बाबू का चित्रण हुआ है ।

अप्पा साहब अपनी पार्टी की सुरक्षा और सुनाम दोनों को बनाये रखना अपना दायित्व समझते हैं और अपने इस दायित्व के प्रति काफी सचेत भी है । इसलिए पार्टी की भलाई के लिए तैयार हो जाते हैं ।

राव और चौधरी दो साहब के मन्त्रिमण्डल के सदस्य है । ये उनकी राजनीति से असन्तुष्ट हैं और अपने तुच्छेपन की सौदेबाजी के लिए मन्त्रि मण्डल गिराने की बात सोचनेवाले हैं । ये सब "कुछ पद" की आशा लिये हुए है । इनके लिए राजनीति स्वार्थ नीति बन गयी है । मौके के लिए इन्तज़ार करनेवाले इन भ्रष्ट नेताओं के माध्यम से हमारी वर्तमान राजनीति के भ्रष्टाचार को व्यक्त करने का प्रयास किया गया ।

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 28-29

"कटरा बी आर्ज़ू" में कांग्रेस एम.पी. बाबू गौरीशंकर पाण्डेय भी सत्ता बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है । गौरीशंकर पाण्डे मज़दूरों को वश में कर ट्रेड यूनियन बनाना चाहते हैं क्योंकि सोचते हैं कि ट्रेड यूनियन नेता होने पर मन्त्री पद मिलना आसान है । इसलिए नेशनल गैरेज के मज़दूर शम्सू मैया और देशराज को वे डिनर पर बुलाते हैं और उन्हें ललचाते हैं । गरीबी के कारण शम्सू मियाँ उनके हाथों बिक जाता है ।

गौरीशंकर पाण्डेय उस राजनैतिक नेता का प्रतीक है जो आपातकालीन स्थिति में नजायज़ फायदा उठाता है । सत्ता की दुहाई देते हुए सभी प्रकार के अपराध को प्रश्रय देनेवाले ये पात्र राजनैतिक विकृत मानसिकता का उदाहरण प्रस्तुत करता है । आपातकालीन स्थिति के दौरान ऐसे असंख्य राजनेताओं की सृष्टि हुई थी जो सत्ता की दुहाई देते रहे और उसकी आड़ में अपना काम चलाते रहे ।

5. परिस्थितिजनित यथार्थ और पात्रों की मानसिकता

आठवें दशक के उपन्यासों में परिस्थितिजनित यथार्थ के आधार पर पात्रों की मानसिकता को रूपायित करने का प्रयास दिखाई पड़ता है । देश के समूचे यथार्थ से भिन्न क्षेत्रीय और जातीय परिवेश के बीच उभरनेवाली पात्रों की विशेष मानसिकता का अध्ययन इस प्रसंग में महत्वपूर्ण लगता है । यथार्थ की विशिष्टता और उस यथार्थ के बीच जीनेवाले पात्रों की असाधारण मानसिकता आम कसौटी पर स्वीकार्य न होने पर भी परिस्थितियों की सीमाबद्धता में ठीक उतरते हैं । "लाल पीली ज़मीन" और "नाच्यौ बहुत गोपाल" दो ऐसी रचनायें हैं जिनमें

क्षेत्रीय जीवन की परिस्थितियों के भीतर रूपायित होनेवाली पात्र मानसिकता का सही चित्र उभारा गया है ।

लाल पीली ज़मीन में गोविन्द मिश्र ने एक क्षेत्र या मुहल्ले खेदिया के जीवन, वहाँ की परिस्थितियों और वहाँ के लोगों की मानासकता का चित्रण किया है । पूरे उपन्यास में आतंक, अराजकता और विवशता का चित्रण है । कहीं गुण्डे लडके लडकियों के फेर में है । लडकियाँ घर में बंद है और विवाह की प्रतीक्षा में उस बंधे वातावरण में दिन काट रही है । सर्वत्र शरारत और हिंसा का बोलबाला है । लडके नाममात्र को पढकर धींगामस्ती में लगे हैं । गुण्डे स्वच्छन्द घूमते हैं । शहर के स्कूल में अच्छे अध्यापक चल नहीं सकते । कर्तव्यनिष्ठ हेडमास्टर की हत्या हो जाती है । नेता लोग और पुलिस सब जानते हुए भी मौन रहते हैं । ऐसे आतंकित परिवेश को देखकर उपन्यास का नायक केशव गुस्से से भरा हुआ है । वह परिवर्तन का आकांक्षी है और इसके लिए शक्ति एकत्रित करने में तल्लीन भी है । लेकिन इस प्रयत्न में वह बाहर आकर भी बार बार भीतर लौट जाता है । क्योंकि वह भीतर ही भीतर किसी अज्ञात जडता से आबद्ध है । इसलिए उसका हर प्रयत्न विफल हो जाता है और हर बार कुछ न कर पाने के कारण दुखित हो जाता है । यह विवशता केवल केशव की ही नहीं हमारे समाज की भी है ।

केशव के वैयक्तिक जीवन की स्थितियाँ भी इस आतंकित मानासिकता की स्थितियों से जुडती है क्योंकि वह अपनी इच्छा के अनुसार न जा सकता है न ही अपने भविष्य का निर्धारण कर सकता है ।

माँ के अनैतिक जीवन का प्रभाव, प्रेमिका का अलग हो जाना, परिवेश के प्रति संघर्ष करने की इच्छा आदि उसके आंतरिक जीवन को एक प्रकार से दिशाहीन कर देते है । लाल पीली ज़मीन में जीनेवाला यह मनुष्य न माँस का ही बन पाता है न पत्थर का । धरती उसे लाल पीली इसलिए लगती है कि इस मिट्टी की स्वाभाविकता सदा के लिए नष्ट हो चुकी है । एक ओर निरीह लोगों की हत्या से बहनेवाला खून का रंग है तो दूसरी ओर निष्क्रियता का पीत वर्ण और इस पीलेपन में असहायता का रंग भी शामिल है । इस तरह उस पात्र की मानसिकता लाल और पीले रंगों से जुडकर एक विशेष स्थिति बोध की शिकार बन जाती है । वैसे केशव एक प्रतीक मात्र है जो क्षेत्रों में छाये हुए आतंक, राजनैतिक असुरक्षा, स्त्रियों पर किये जानेवाले अत्याचार, गरीबी, बेरोज़गारी और जीवन की घृणित स्थितियों के बीच जीने के लिए अभिशप्त सा हो गया है । कस्बे की ओर लौटने की उसकी इच्छा एक तरह से शहरों की ज़िन्दगी से भी पलायन करने की प्रवृत्ति का परिचायक है । इस तरह परिस्थितिजनित यथार्थ के बीच रूपायित होनेवाला जीवनबोध सकारात्मक न होकर नकारात्मक बन जाता है ।

दूसरा उपन्यास नाच्यौ बहुत गोपाल की नायिका निर्गुणिया ब्राह्मण से भंगिन बनने की प्रक्रिया से गुज़रनेवाली है । वह इन दो संस्कारों के द्वन्द्व को भोगती हुई नये जीवन की त्रासदियाँ स्वीकार करती है । शैशव काल को अपने नाना-नानी के ब्राह्मण संस्कारवाले परिवेश में व्यतीत करने के पश्चात निर्गुणिया अपने पिता के साथ ऐसे परिवेश में पदार्पण करती है जहाँ काम संबंधी मूल्यों की अराजकता एवं मूल्यहीनता का बोलबाला है । इस घर के ऐसे परिवेश में आकर निर्गुणिया भी अनेक

पुरुषों की कामवासना की शिकार बनती है । अपने पिता के स्वामी पं. बंटुक प्रसाद की पत्नी जिसे वह अम्मा कहती है, नये प्रेमियों को फंसाने के लिए निर्गुणिया को माध्यम बनती है । लेकिन अम्मा को जब निर्गुणिया अपने काम संबंधों में बाधक प्रतीत होती है तब उसका विवाह बूढे मसुरियादीन से करा देती है जो उसके पिता से भी उम्र में सात वर्ष बडा होता है । यहीं से निर्गुणिया के जीवन की त्रासदी प्रारंभ होती है । दिन रात भवन की ऊँची दीवारों के अंदर कैद निर्गुणिया का मन पक्षी की भाँति पंख फडफडाता रहता है । निर्गुणिया का कामदग्ध मन जब मसुरियादीन की निष्क्रिय काम चेष्टाओं से तृप्त नहीं होता तब वह एक मेहतर युवक मोहना के साथ घर छोडकर भाग जाती है । वहाँ वह अपने सारे ब्राह्मण संस्कारों को त्याग कर मेहतरानी बनने के लिए विवश होती है । बूढे मसुरियादीन की हवेली में दमघुटकर छटपटानेवाली निर्गुणिया अपनी शारीरिक क्षुधा में अथवा देह सुख की तलाश में ब्राह्मणी से मेहतरानी बन जाती है तो उसे एक ब्राह्मण स्त्री के भटकन के रूप में नहीं आंका जाना चाहिए । निर्गुणिया यदि ब्राह्मणी न भी होती तब भी उसका यही संघर्ष और यही निर्णय होता जो इस उपन्यास में चित्रित है । वास्तव में इसे नारी जाति से सम्बद्ध करके देखना चाहिए । निर्गुणिया मोहना के साथ काया सुख के लिए भाग कर आयी थी किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि केवल जीवन भर काया सुख ही उसका उद्देश्य रहा । एक स्थान पर निर्गुणिया कहती है "मेरा ये मरदुआ ही मेरा बेबसी में मुझे मिला था, लेकिन चाह नहीं था, यह कैसे कहूँ । प्यार करना कोई आसान काम नहीं है बाबूजी । प्रेम में पूरी तपिस्या होती है । बाकी ये ज़रूरी है कि प्रेम के जोस में तपस्या की परेशानियाँ कभी महसूस नहीं होती ।"[1] ब्राह्मणी से मेहतरानी की परिणति वास्तव में निर्गुणिया की परिस्थितिजनित विवशता है ।

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 86

जातिगत संस्कारों के अंदर रूपायित होनेवाला परिस्थितिजनित यथार्थ और उसको भोगने के लिए मज़बूर निर्गुणिया नारी की उस मूल मनोवृत्ति को प्रस्तुत करते है जो नारी की मूलभूत अभिलाषाओं से जुडे हुए है । यहाँ समस्या जातिच्युति की नहीं मूल्यच्युति की भी नहीं परन्तु शारीरिक यथार्थ की है और दैहिक इच्छाओं की पूर्ति की है । उस विशेष इच्छा की पूर्ति से जुडे हुए अन्य प्रश्न समाज के जातिगत धरातलों को तब स्पर्श करता है जब उसका सामाजिक रंग उभरने लगता है वैसे स्त्री और पुरुष दो इकाईयाँ है और उनकी आशा आकांक्षायें प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार है । जाति धर्म या संस्कार अपना महत्व तब भी स्थापित करते है जब व्यक्ति की मूल इच्छाओं की तृप्ति होती है । अन्यथा जातिगत और समाजगत बाहरी बन्धनों का कोई अर्थ नहीं रह जाता । ब्राह्मणी मेहतरानी बने या मेहतर ब्राह्मण बने ये समाज की समस्या है । व्यक्तिगत रूप में निर्गुणिया एक औरत है और मोहना एक पुरुष । और उन दोनों के संबंध स्त्री और पुरुष के ही संबंध । मूल्यच्युति या धर्मच्युति ऊपर से डाले हुए आवरण मात्र है । इस समस्या को पात्र रूपायन में उचित स्थान देने का प्रयास नागर ने किया है ।

पात्र संकल्पना में आये हुए परिवर्तन यह सूचित करते है कि कालानुगत स्थितियों के अनुरूप रूपायित प्रतिक्रियायें समय सापेक्ष है । पात्र समसामयिक स्थितियों के पक्ष में या विपक्ष में अपने कार्यों को संचालित करते हैं । यहाँ न तो कोई आदर्श स्वीकारा जाता है न मूल्य संरक्षण की व्यवस्था को ही बचाया जाता । अजनबी से लगनेवाली परिस्थितियों में अजनबी प्रतिक्रियाओं के सहारे जीवन की स्थितियों को आँकते जाना और गतिशील होना पात्रों का लक्ष्य लगता है । इन्हीं परिस्थितियों में

यही संभाव्य है । और इन्हीं परिस्थितियों के आकलन पात्र परिकल्पना के माध्यम से प्रस्तुत किया है । इसलिए आठवें दशक के उपन्यासों के पात्रों की मानसिकता समयबद्ध है समाजबद्ध है, परिस्थितिबद्ध है और यथार्थबद्ध है ।

सामाजिक दृष्टि एवं यथार्थ के बीच का संबन्ध

परिस्थिति जनित यथार्थ का सम्यक चित्रण प्रस्तुत करते हुए आठवें दशक के उपन्यासकारों ने यथार्थ की नयी भूमिका की रूपरेखा प्रस्तुत की है । ये यथार्थ उस नये बोध से रूपायित होता है जो लेखक को और उसके पात्रों को परंपरागत सामाजिक दृष्टि से अलग कर देता है । इस कारण समसामयिकता के साथ रूपायित होनेवाली स्थितियाँ सामाजिक दृष्टि से पूर्ण रूप से स्वीकृत नहीं होती । यथार्थ की रूपरेखा को सामाजिक दृष्टि की मान्यता प्राप्त करने के लिए काफी समय लगता है । इसलिए आठवें दशक का यथार्थ सच्चाई की तस्वीर उभरते तो है लेकिन सामाजिक दृष्टि पूर्ण रूप से उस सच्चाई को स्वीकारने के लिए तैयार नहीं होती । वस्तुतः सामाजिक दृष्टि और यथार्थ के बीच स्वीकार और अस्वीकार की स्थितियाँ बनी रहती है । कई उपन्यासों के कथ्य को अर्ध स्वीकृति देने में सामाजिक दृष्टि तैयार होती है क्योंकि नैतिक आर्थिक और परंपरागत मूल्यों के परिवर्तन को एकदम स्वीकारना सामाजिक दृष्टि के लिए असंभव लगता है । इस कारण आठवें दशक के उपन्यासों की इन स्थितियों को यथार्थ की पूर्ण स्वीकृति प्रदान करने में सामाजिक दृष्टि हिचकती है ।

उदाहरण के रूप में आपका बंटी शीर्षक उपन्यास में उभरनेवाली यथार्थ की स्थितियाँ परिवेशजन्य अवश्य है । साथ ही साथ अहं ग्रस्त नारीत्व और पुरुषत्व के बीच के संघर्ष की स्थिति को भी उजागर करती है । उपन्यास में प्रस्तुत कथ्यात्मकता से अजय और शकुन के बीच के इस संघर्ष का तलाक में परिणत होना एक स्वाभाविक परिणाम है । परन्तु उस तलाक के साथ जुड़े हुए होनहार बच्चे की ज़िन्दगी का भविष्य सामाजिक दृष्टि को चुनौती देनेवाला है । क्योंकि छोटी मोटी बातों को लेकर पति और पत्नी का अलग हो जाना और बच्चे को अनाथ बनाकर नई नई जोडियों की तलाश करना समाज की दृष्टि से अस्वीकार्य है । वैयक्तिक संबंध होते हुए भी इस प्रकार के पति-पत्नी के संबंध में आनेवाली दरारें नई पीढ़ी के लिए प्रश्नचिह्न खडा करती है । परिस्थितिजनित यथार्थ से ऐसी स्थिति में सामाजिक दृष्टि टक्कर लेती है । हो सकता है कि सामाजिक नीति का प्रहार इस संदर्भ में हल्का भी पडेगा । फिर भी प्रहार अवश्य होता है । दो तीन दशकों के बाद समाज भले ही ऐसी स्थितियों को मंजूरी दे दें । परन्तु आप का बंटी के रचनाकाल में इस यथार्थ को मंजूरी देना समाज के लिए असंभव बाध्य लगती है । इस कारण मन्नू भण्डारी की रचना आठवें दशक के पूर्वार्ध के यथार्थ को उजागर करते हुए भी स्वीकृति प्रदान करने में समाज को प्रेरणा नहीं दे सकती ।

मोहन राकेश का उपन्यास अन्तराल में भी परिवेशजन्य यथार्थ का चित्रण है । साथ ही साथ अहं के कारण श्यामा और देव के वैवाहिक जीवन में होनेवाले संघर्ष का चित्रण है । "अन्तराल" में चित्रित कथ्य के अनुसार श्यामा के मन में होनेवाली अतृप्ति और अपूर्णता के कारण

दाम्पत्य जीवन में दरार और श्यामा का कुमार के प्रति आकर्षित होना एक स्वाभाविक परिणाम है । लेकिन पति के न होने पर भी विवाहित नारी का किसी अन्य पुरुष के प्रति आकर्षित होना और उसी के साथ संबंध स्थापित करना सामाजिक दृष्टि से अस्वीकार्य है । उपन्यास की एक अन्य स्त्री पात्र सीमा वर्तमान को पूरी तरह भोगने में विश्वास करती है । और जीवन में पूरी स्वच्छन्दता को महत्व देकर अनेक पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करके अपनी इच्छानुसार स्वतन्त्र जीवन बिताती है । अविवाहित नारी का इस प्रकार का स्वतन्त्र जीवन सामाजिक दृष्टि से पूर्ण रूप से अस्वीकार्य है । इसलिए वैयक्तिक होते हुए भी "अन्तराल" का परिवेशजन्य यथार्थ को मंजूरी देना समाज के लिए असंभव है ।

मृदुलागर्ग का उपन्यास चित्तकोबरा में चित्रित यथार्थ की स्थितियाँ अवश्य परिवेशजन्य है । इसमें अहंग्रस्त मनु और महेश के बीच के संघर्ष का भी चित्रण है । मनु और महेश के बीच समझौता न होने के कारण दाम्पत्य जीवन में विघटन और मनु का रिचर्ड के साथ संबंध स्थापित करना बिलकुल स्वाभाविक है । पूर्ण रूप से यह एक स्वाभाविक परिणति है । लेकिन पति और प्रेमी के साथ नारी का एक साथ शारीरिक संबंध स्थापित करना सामाजिक दृष्टि कभी भी उचित नहीं मानती । समाज द्वारा अस्वीकृत प्रेम संबंध समाज में निन्दनीय होते हैं । परिस्थितिजनित यथार्थ होने पर भी ऐसी स्थिति सामाजिक दृष्टि से ज़रूर टक्कर लेती है । फिर भी दो तीन दशकों के बाद सामाजिक दृष्टि इस परिस्थितिजनित यथार्थ को मंजूरी दे सकती है ।

मुरदाघर उपन्यास में उभरनेवाली स्थितियाँ अवश्य परिस्थिति जन्य है । इस उपन्यास में चित्रित वेश्याओं के लिए शरीर बेचना चाहत नहीं बल्कि निर्मम विवशता है । जीवनयापन की इस पद्धति को नारी तब स्वीकार करती है जब जीने के सारे उपाय बन्द हो जाते हैं । व्यक्ति हर स्थिति में मृत्यु को नकार देना चाहता है । उपन्यास में चित्रित कथ्य के अनुसार यह पेशा भी मृत्यु के नकार की देन है । उपन्यास में पेट भरने के लिए, या पेट की आग को बुझाने के लिए चोरी करनेवाले अनेक पुरुष पात्रों का चित्रण भी है । परिस्थिति के दबाव के कारण ये पात्र शरीर बेचते हैं अथा चोरी करते है और उनका इस प्रकार होना स्वाभाविक भी है । लेकिन शरीर बेचना, चोरी करना आदि सामाजिक दृष्टि से अपराध है । साथ ही वेश्या जीवन के साथ जुडे हुए नई पीढी की जिन्दगी का भविष्य सामाजिक दृष्टि को चुनौती देनेवाला है । इसलिए इस परिस्थितिजनित घृणित यथार्थ के साथ मेलखाना या इसको स्वीकृति देना सामाजिक दृष्टि के लिए संभव नहीं ।

"लाल पीली ज़मीन" नामक उपन्यास में पूर्णतः परिवेशजन्य यथार्थ का चित्रण है । नायक केशव के पिता बाहर नौकरी करता है और पति के अभाव में माँ, मामा के साथ अवैध संबंध स्थापित करती है । उपन्यास में अनेक लडकों का चित्रण है जो लडकियों से छेडखानी करते है, दादागिरी करते हैं और शहर में आतंक फैलाते हैं । पुलिस विभाग भ्रष्ट है । बोस साहब जैसे जननेता पुलिस और गुण्डों की सहायता से अपना नेतृत्व बनाये रखते हैं । सर्वत्र आतंक और अराजकता का बोलबाला है । गुण्डे स्वच्छन्द घूमते हैं । सुरेश शिवमंगल कल्लू,

पंडित कल्लन जैसे व्यक्तियों की हरकतों को देखकर हर पिता आतंक और भय से भरा हुआ है । नायक केशव परिवर्तन के लिए प्रयत्न करता है लेकिन परिवेश के दबाव के कारण हर बार पराजित हो जाता है । इस प्रकार उपन्यास के अधिकांश पात्रों द्वारा अनीति, अन्याय, गुण्डागर्दी, अत्याचार, अवैध संबंध, छेडखानी, दादागिरी आदि सब कुछ होने पर भी इसके विरुद्ध आवाज़ उठानेवाला या काम करनेवाला कोई भी नहीं है । ऐसी परिस्थिति में लोगों का इस प्रकार होना स्वाभाविक भी है । लेकिन सामाजिक दृष्टि में ये सभी अपराध हैं । इसलिए इस परिस्थिति जनित यथार्थ के साथ समझौता करना सामाजिक दृष्टि के लिए असंभव है । फिर भी आठवें दशक के उत्तरार्ध के इस परिस्थितिजनित यथार्थ को सामाजिक दृष्टि की अर्ध स्वीकृति मिली है । उपन्यास में चित्रित सामाजिक जडता का शायद यही कारण है ।

"नाच्यौ बहुत गोपाल" नामक उपन्यास में उभरनेवाली यथार्थ की स्थितियाँ परिवेशजन्य है । उपन्यास के कथ्य के अनुसार निर्गुणिया किशोरावस्था में परिस्थिति के प्रभाव के कारण याने विमातृ गृह की भोगपरक परिस्थिति से प्रभावित होकर कई पुरुषों के साथ शारीरिक खेल खेलती है । और यह उसे भोगवादी बना देती है । यह तो एक स्वाभाविक परिणति है । लेकिन अविवाहित स्त्री का अनेक पुरुषों के साथ इस प्रकार शारीरिक संबंध स्थापित करना सामाजिक दृष्टि के लिए स्वीकार्य नहीं । उपन्यास के कथ्य के अनुसार इसमें उच्चवर्ग द्वारा मेहतरों के शोषण का चित्रण है । उच्चवर्ग द्वारा निम्नवर्ग का शोषण परंपरा से चलता आया है और यह तो स्वाभाविक भी है । फिर भी समाज इस प्रकार के शोषण को मंजूरी नहीं दे सकता ।

"प्रतिबद्ध" और "समय बीता हुआ" शीर्षक उपन्यास में भी उच्चवर्ग द्वारा निम्नवर्ग का शोषण चित्रित है । "प्रतिबद्ध" में फैक्ट्री मैनेजर सेठ साहब, प्रोडक्शन मैनेजर आनन्द, लेबर वेलफेयर ऑफिसर मि. निरूला, सेक्योरिटी ऑफिसर मि.कोहली, मैनेजिंग डायरेक्टर मि.जगदीश कपूर और व्यवस्था के दलाल मज़दूर यूनियन का सेक्रेट्री खेमचन्द आदि हरिलाल और उसके साथियों का शोषण करते हैं । "समय बीता हुआ" में खदान मैनेजर चैटर्जी और कारखाने का मैनेजर गणपति दोनों व्यवस्था द्वारा नियुक्त वेल्फेयर ऑफीसर आनन्द और उसके मज़दूर साथियों का शोषण करते हैं । इन दोनों उपन्यासों में समसामयिक मालिक-मज़दूरों की समस्याओं का अंकन हुआ है । इनमें आनेवाली परिस्थितियाँ सौ फीसदी यथार्थपूर्ण है । इतना सब होने पर भी धन और सत्ता के बल पर शोषक वर्ग हो हमेशा जीता रहता है । अन्य रचनाओं से भिन्न यहाँ समाज द्वारा मंज़ूरी देने की, या न देने की बात राजनैतिक स्तर पर आकर प्रश्नचिह्न बन जाती है । इसलिए राजनीतिक वातावरण का समर्थन करनेवाली रचनाओं में सामाजिक मंज़ूरी सवाल बनकर खड़ा हो जाती है ।

"कटरा बी आर्जू" शीर्षक उपन्यास में परिस्थितिजन्य राजनीतिक यथार्थ का चित्रण है । "कटरा बी आर्जू" में रहनेवाले लोग आर्थिक दृष्टि से छोटे लोग है और इसलिए उनकी अर्जुएँ भी छोटी छोटी है । आपातकालीन परिस्थिति में इस मुहल्ले के निवासी अपनी माँगों को लेकर संघर्ष करते हैं । लेकिन यहाँ के निवासियों की सहज ज़िन्दगी को इमर्जेन्सी झकझोर देती है । वे व्यवस्था के सधे हुए हाथों का शिकार होते हैं । बहुत अधिक लोगों को पुलिस के टार्चर और अमानवीय यातनाओं

को सहना पडता है । इसमें इमर्जेन्सी के दौरान सरकार द्वारा लोगों पर किये जानेवाले अत्याचारों का चित्रण है । साथ ही साथ सरकार की शोषण नीति का भी चित्रण उपन्यास में प्राप्त है । सरकार द्वारा किये जानेवाले ये अत्याचार और शोषण इमरजेन्सी के दौरान स्वाभाविक भी है । लेकिन सामाजिक दृष्टि में ये अपराध हैं । और इसलिए इस परिस्थितिजनित राजनीतिक यथार्थ को मंजूरी देना सामाजिक दृष्टि के लिए साधारण रूप में संभव नहीं ।

"महाभोज" नामक उपन्यास में भी परिस्थितिजनित राजनैतिक यथार्थ का चित्रण है । इसमें राजनैतिक परिवेश के साथ हरिजनों पर किये जानेवाले अत्याचार और उस पर आधारित राजनैतिक शोषण मिलता है । मुख्यमन्त्री दा साहब के स्वार्थ के लिए बिसू जैसे पात्रों को आत्माहूति देनी पडती है । और निरपराधी बिन्देश्वर को दंड भोगना पडता है । न्याय और नियम के पालन के लिए प्रतिबद्ध सक्सेना जैसे अफसरों को बहुत अधिक यातनायें सहनी पडती है । और सत्य के विरुद्ध रिपोर्ट तैयार करनेवाले सिन्हा को आई.जी.का पद दिया जाता है । सरकार के विरुद्ध आवाज उठानेवाले शिक्षा मंत्री त्रिलोचन सिंह को मन्त्री पद से बर्खास्त कर दिया जाता है । सत्तापोषक जोरावरसिंह केवल हरिजनों का शोषण ही नहीं बल्कि मनमानी भी करता है । "मशाल" पत्र के संपादक दत्ता बाबू स्वार्थ लाभ की दृष्टि से दा साहब के हाथ की कठपुतली बन जाता है । शासक वर्ग की मक्कारी और बुराइयों पर पर्दा डालकर उनकी झूठी प्रशंसा करनेवाले ऐसे अखबार बाहर से पूर्ण निष्पक्षता बनाये रखने का स्वांग भी रचते हैं । भूतपूर्व मुख्यमन्त्री और

विरोधी पक्ष के नेता सुकुल बाबू भी सत्ता प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के गूढ़ तन्त्रों को अपनाते हैं ।

उपन्यास में चित्रित इस राजनैतिक धाँधली फरेबी, मक्कारी और धोखेबाजी वास्तव में परिस्थितिजनित राजनैतिक यथार्थ है। लेकिन सामाजिक दृष्टि के लिए इस राजनैतिक यथार्थ स्वीकार्य नहीं है । क्योंकि इस परिस्थितिजनित राजनैतिक यथार्थ आधुनिक जीवन के स्वरूप को विषाक्त करने के साथ साथ जीवन को अपराधोन्मुख करने के लिए भी सक्षम है । इसलिए इस राजनैतिक यथार्थ को मंजूरी देना सामाजिक दृष्टि के लिए असंभव बाध्य लगती है । फिर भी आठवें दशक के अन्तिम वर्ष में रचित यह उपन्यास राजनीतिक च्युति के प्रति मौन साधनेवाले समाज की निष्क्रियता का दस्तावेज प्रस्तुत करती है । राजनैतिक विषय होने के कारण समाज के इस यथार्थ को स्वीकारना या न स्वीकारना अपने आप में एक महत्वपूर्ण प्रश्न है । सारे देश को ग्रसनेवाली राजनैतिक धाँधली से मुक्ति चाहने पर भी यह एक असंभावित बात है । क्योंकि सत्ता और राजनीति उस आवाज़ को मौन कर सकती है जो राजनीति की भ्रष्टता को उभारना चाहती है । वस्तुतः आठवें दशक के उपन्यास में कुछ ऐसे मुद्दे भी हैं जिनका कोई सही जवाब अभी ढूँढा नहीं जा सकता ।

सामाजिक दृष्टि और यथार्थ के बीच का संबंध उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कई सीमारेखाओं से आबद्ध लगता है । परंपरागत मूल्यों से कटनेवाली स्थितियों को मंजूरी देने में समाज तैयार नहीं होता ।

तो कहीं अनजाने में मौन रहकर या स्थितियों को अनदेखा करके समाज अर्ध स्वीकृति भी प्रकट करता है । राजनैतिक समस्याओं से जुडी हुई स्थितियों में समाज की दृष्टि अनिश्चित बनी रहती है । कई बातों में सन्देह का स्वर उभरकर आता है । इस तरह सामाजिक दृष्टि यथार्थ को विशेष स्थितियों में रखकर देखना उचित समझती है और उसी के आधार पर निर्णय लेने के लिए व्यक्ति को स्वतंत्रता भी देती है । वस्तुत: आठवें दशक के हिन्दी उपन्यासों का यथार्थ समाजबद्ध होते हुए भी आनेवाले कल की स्थितियों के प्रति जागरूक बनानेवाला है ।

सहज स्थितियों का अन्वेषण (स्त्री पुरुष संबंधों में)

आठवें दशक के उपन्यासों में आयी हुई स्थितियाँ लेखकीय दृष्टि को नये क्षितिजों से जोडती है । पात्र और परिस्थितियों के माध्यम से परिवेशजन्य यथार्थ का विश्लेषण करनेवाला लेखक मानवीय जीवन की सहज स्थितियों का भी अन्वेषण करता है । ये स्थितियाँ एक ओर परिस्थितिजन्य होती है तो दूसरी ओर वैयक्तिकता की गहराइयों से जुडती है । इसलिए सहज स्थितियों के अन्वेषण में परिवेश एवं व्यक्ति दो अलग अलग इकाइयों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं । सहज स्थितियों के अन्वेषण में परिवेशगत यथार्थ का जब सहारा लिया जाता है तब प्रतिबद्धात्मक चिन्तन अधिक महत्वपूर्ण बनने लगता है । जब परिवेश से कटकर वैयक्तिक धरातल पर सहजता का अन्वेषण किया जाता है तब रचना अधिक आत्म-केन्द्रित होने लगती है । इस स्तर पर सहजता की तलाश व्यक्तिनिष्ट यथार्थ की ओर उन्मुख होती है । इस कारण आठवें दशक की रचना दृष्टि

सहज बोध को दो कोणों से आँकना उचित समझती है । उपन्यासों में इस कारण व्यक्ति केन्द्रित सहजता का और समाज केन्द्रित प्रतिबद्धता का अलग अलग पक्ष उभरता है ।

आप का बंटी में शकुन ने वैवाहिक जीवन की एकरसता से ऊबकर अजय से संबंध विच्छेद किया । तब उसके भीतर यह आशा थी कि संबंध विच्छेद के बाद का स्वच्छ परिवेश उसको नया जीवन देगा । लेकिन अन्धकार और अकेलापन वैसा ही बना रहता है । अकेलेपन से बचने के लिए और अजय को पराजित करने के लिए शकुन डा॰जोशी से पुनर्विवाह कर लेती है । किन्तु वहाँ उसका पुत्र बंटी दीवार बन जाता है । वह डा॰जोशी के घर समझौता नहीं कर पाता । वह डा॰जोशी को पापा नहीं कह सकता और बात बात में अशिष्ट व्यवहार भी करता है । शकुन तो बंटी को अपने जीवन की बाधा मानने लगती है । शकुन पुनर्विवाह करके मानसिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त करना चाहती है किन्तु उसे सुख और सन्तोष नहीं मिल पाता ।

वैयक्तिक क्षोभ विक्षोभ के कारण या अहंग्रस्त मानसिकता के कारण जो फैसले लिये जाते है, वे असाधारण स्थितियों को जन्म देते हैं । उनसे मुक्ति पाने के लिए पुनः तलाश करनी पड़ती है जहाँ सहज रूप में उसको सान्त्वना मिल सकती है । आपका बंटी की शकुन अंत में यह महसूस करती है कि सहज स्थिति के अन्वेषण में वह विफल है । क्योंकि उसकी सहज स्थिति पूर्वपति और बंटी के साथ एडजस्ट करके रहने में ही विद्यमान

था । उसको छोड देना अपने को संघर्ष में डाल देना और इस संघर्ष से मुक्ति असंभव है । परोक्ष रूप में लेखिका संबंध विच्छेद करनेवाले पति-पत्नियों के सामने सोच विचार से काम लेने का विकल्प रखती है । सहज स्थिति की तलाश स्वयं रचनाकार ही प्रस्तुत करती है ।

अन्तराल की श्यामा देव को पति के रूप में पाकर भी केवल शारीरिक रिश्ता ही उससे बना पाती है । वह देव के साथ के संबंध को सहने का संबंध मानती है । इस अतृप्ति के कारण ही श्यामा कुमार के प्रति आकर्षित होती है । किसी का एकनिष्ठ प्यार पाने की चाह उसे व्याकुल बनाती रहती है । लेकिन प्यार का अर्थ उसकी दृष्टि में दैहिक व्यापार से कुछ हटकर है । वह कुमार के साथ एक आत्मीय संबंध स्थापित करना चाहती है । अतृप्ति का अधूरापन श्यामा में एक ओर रति विरक्ति जगाता है, दूसरी ओर दैहिकता से परे कुछ पा लेने की तृष्णा । लेकिन एक दिन कुमार श्यामा के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करने की कोशिश करता है और श्यामा उससे अलग हो जाती है । ये दोनों पास पास रहते हुए भी अकेले है । एक ओर पुरुष की संपूर्णता के साथ लेना उसका अभीष्ट है दूसरी ओर पुरुष से स्वयं को बचाये रखना उसकी विवशता है । इस प्रकार "अपनी इच्छाओं और अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए भावना साथ दे" तो मैं किसी तरह के आचरण को हीन नहीं समझती जैसे बोल्ड स्टेंटमेंट देनेवाली श्यामा के बीच एक अन्तराल मात्र रह जाता है ।"[1]

---

1. डा. शरेशचन्द्र चुल्लीमठ - मोहन राकेश का साहित्य समग्र मूल्यांकन - पृ. 105

अन्तराल की स्थितियों का विश्लेषण करने के बाद लगता है कि स्त्री पुरुष संबंधों के कई आयाम होते है जिनको केवल शारीरिक स्तर पर या मानसिक स्तर पर सीमित करके आंका नहीं जा सकता । एक और बात यह भी है कि नारी के संबंध में और उसकी शारीरिक और मानसिक इच्छाओं के संबंध में सामान्य स्तर पर निर्णय लेना गलत है । नारी की वैयक्तिक आसक्ति - विरक्ति महत्वपूर्ण मुद्दों से जुडकर प्रकट होती है । श्यामा उस सहज स्थिति का अन्वेषण करती है जहाँ पुरुष केवल शरीर का अधिकारी न होकर मानसिक आदान प्रदान का भी अधिकारी बना रहे । इस कारण कभी कभी स्त्री अपना आधा हिस्सा ही पुरुष को दे पाती है और आधा हिस्सा न दे पाने के कारण वह संपूर्ण रूप से उसकी नहीं बन पाती । याने स्त्री को केवल भोग का साधन मात्र मानना उचित नहीं है । अन्तराल का कथ्य अविश्वसनीयता के धरातल से गुज़रता हुआ जहाँ रुकता है वहाँ यही सवाल प्रतिष्ठित होते हैं ।

चित्तकोबरा की नायिका मनु प्रेमी रिचर्ड के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करती है । क्योंकि विवाह के समय और फौरन बाद महेश मनु के प्रति विमुखता प्रकट करता है । इस अपूर्णता मनु को रिचर्ड की ओर उन्मुख करती है । मनु की दृष्टि में तो "शरीर ही संगीत है, शरीर ही नृत्य । शरीर ही ईश्वर है, शरीर ही आराधना । शरीर ही चेतना, शरीर ही विस्फोट । शरीर के बंधक रहने पर मन-मस्तिष्क नगण्य हैं, पर शरीर लालची नहीं है । अपना प्राप्य पा लेने पर शांत हो जाता है ।"[1] मनु का रिचर्ड के साथ संबंध जानने पर भी महेश उसे

---

1. मृदुला गर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 113

दोषी नहीं कहता । वह कहता है - "दुःख मत करना..... शायद कोई भी इनसान एक ही समय में एक दूसरे को प्यार नहीं करते जब एक करता है तो दूसरा नहीं और जब दूसरा करता है..... देरी मुझसे हुई मनु !"[1]

इस प्रकार महेश का कटा हुआ व्यवहार मनु को अनैतिक बना देता है । शरीर भोग को प्राथमिकता देनेवाली मनु की यह स्वाभाविक परिणति है जिसका समर्थन हर व्यक्ति करेगा ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता ।

"चित्तकोबरा" ऐसे एक असाधारण कथ्य को प्रतिपादित करनेवाला उपन्यास है । स्त्री की एकांगी सेक्स की प्रवृत्ति कई सीमाओं से जूझती हुई यहाँ उभरती है । मनु की मानसिकता की पहचान करने से पता चलता है कि नारी की चेतना में कहीं सेक्स की अदम्य आकांक्षा दबी पडी रहती है । ऐसी महिला से संबंध जोडते समय पुरुषों को बडी सावधानी बरतनी पडती है । पत्नी के चरित्र को, उसकी इच्छा को सही समय पर सही ढंग से समझकर उसकी रखवाली करना पति के लिए महत्वपूर्ण दायित्व है । इस कार्य में विमुखता का होना असहज स्थितियों को जन्म देता है । "चित्तकोबरा" का परिवेश काल्पनिक लगते हुए भी उस सहज स्थिति की ओर सूचना देता है । जहाँ स्त्री की सेक्स संबंधी अवधारणा की पूर्ति का सब से महान दायित्व पति पर है ।

---

1. मृदुलागर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 105

"नाच्यौ बहुत गोपाल" की नायिका निर्गुणिया की माँ पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली एक निष्ट नारी थी । लेकिन पिता जो स्वजातीय महाजन के गुमाश्ता अनैतिक आचरण करनेवाला व्यक्ति है । निर्गुणिया के पिता उसे माँ की मृत्यु के बाद भोगपरक परिवेश में ढकेल देता है और निर्गुणिया पारस्थितिवश भोगवादी बन जाती है । निर्गुणिया को बाद में उसके पिता की उम्र से भी बडे, बूढे मसुरियादीन से विवाह करना पडता है । जो उसकी दैहिक और मानसिक क्षुधा को परितृप्त करने में पूर्ण रूप से असमर्थ है । इसलिए निर्गुणिया भंगी मोहना के साथ भाग जाती है और मेहतरानी बन जाती है । इसके संबंध में डा.हेमराज कौशिक का कथन है "काम एक शारीरिक आवश्यकता है जब निर्गुणिया को इस मौलिक प्रवृत्ति की परितृप्ति नहीं होती। तो वह अपने सारे ब्राह्मण संस्कारों को त्याग कर मेहतर बनने के लिए विवश होती है ।"[1]

इस परिवर्तन के बारे में स्वयं नागरजी ने लिखा है "निर्गुणिया की नारी काया को सशक्त पुरुष देह चाहिए ही । सुख सम्मान से जीने की सुविधा चाहिए, जाति धर्म और वर्ग नहीं ।"[2]

निर्गुणिया के माध्यम से उस सहज स्थिति का बोध लेखक ने कराया जिसमें शारीरिक इच्छाओं की पूर्ति सब से अग्र प्रतिष्ठित होती है । जाति, धर्म और संस्कार से किसी भी स्त्री की कामेच्छा की पूर्ति

---

1. डा.हेमराज कौशिक - अमृतलाल नागर के उपन्यास - पृ.99-100
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ.176

नहीं हो सकती । अतः यहीं उच्च कुल में जन्मी हुई कोई औरत उनकी मानमर्यादा को तोडकर अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए योग्य पुरुष की तलाश करती है तो इसमें किसी प्रकार की आपत्ति का सवाल ही नहीं उठता । असल में यहीं सहजता का अन्वेषण है और यहीं एक सत्य है ।

समय बीता हुआ में अधेड उम्र के जितेन्द्र के साथ निशा की शादी होती है । जितेन्द्र के साथ बहुत अधिक संपत्ति और भौतिक सुख सुविधायें होने पर भी निशा उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाती । जितेन्द्र की शारीरिक शिथिलता निशा के शारीरिक तनाव और बढाती है । शारीरिक तृप्ति के लिए निशा एक सबल आधार की प्राप्ति के लिए भटक रही है और आनन्द से इसकी प्राप्ति होती है । लेकिन गुरुपत्नी होने के कारण आनन्द उसे छोड देता है । निशा की यह चाह स्वाभाविक है क्योंकि भौतिक सुख सुविधाओं के परे जवान नारी को जवान पुरुष की जरूरत है ।

आनुशंकिक रूप में प्रस्फुटित होनेवाला उपन्यास का यह कथांश नारी और पुरुष के असंतुलित शारीरिक संबंधों पर प्रकाश डालता है । यहाँ भी लेखक उस सत्य का उद्घाटन करती है जहाँ पुरुष की अकर्मण्यता नारी को किस तरह से शिथिल और पथभ्रष्ट बना सकती है । दूसरे शब्दों में ये सब कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहाँ अनमेल विवाह की समस्या नये ढंग से आयामित होती है । शिक्षा, सुविधा और धन दौलत सब नारी के लिए उतना महत्व नहीं रखते जितना इच्छाओं की पूर्ति रखती है । एक सीमा

तक नारी को पथभ्रष्टता का दायित्व पुरुष पर ही आरोपित किया जा सकता है । उपन्यास में उभरनेवाली सहजता की स्थिति इसी ओर संकेत करती है ।

उपर्युक्त विश्लेषण के बाद स्त्री पुरुष के संबंधों के सहज स्थितियों की तलाश यह सूचित करती है कि आठवें दशक की जीवन स्थितियाँ स्त्री पुरुष के आपसी एडजस्टमेंट के अभाव से उभरती है । नारी और पुरुष के संबंधों का असंतुलन वैवाहिक जीवन के आधार पर जन्म लेता है । यहाँ अनमेल विवाह, सेक्स की अतृप्ति, मानसिक तनाव और अपनी सीमा रेखाओं के अंदर आबद्ध रखने की मनोवृत्ति, सीमाओं को तोडकर बाहर जाने की लालसा आदि सब एक साथ अपना रंग जमाते हैं । इन रंगों में बिखरे हुए जीवन के अनुभवों के नमूने मिलते हैं जो आठवें दशक की परिस्थितियों के आधार पर अपना अलग महत्व उभारते हैं ।

नगर चेतना का वैविध्यात्मक स्वरूप

आठवें दशक के चर्चित उपन्यासों में नगर चेतना का वैविध्यात्मक स्वरूप दृष्टिगत होता है । रचना का परिप्रेक्ष्य शहर की जिन्दगी से जुडा हुआ दिखाई पडता है । ये शहर अपनी विविधता लेकर हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं कि वहाँ व्यक्ति अस्मिता की तलाश करता हुआ कहाँ भटकता हुआ दिखाई पडता है और कहाँ अपने ही लोगों के बीच अपरिचित बन जाता है तो कहीं सारे समाज में अजनबी बनकर घूमने के लिए विवश हो जाता है । आत्मनिर्वासन आत्मशोक और आस्था का

बोध शहर के मंजिलों को चीरकर परिवार के अन्तर प्रवेश करता है और संबंधों में दरारें उत्पन्न करके एक वीरानगी को जन्म देता है । जिसको कुछ लोग अस्तित्व बोध से भी जोडना उचित मानते हैं । अहंग्रस्त जीवन की स्थितियों का, और व्यक्ति की असहाय अवस्था का शारीरिक भूख की सीमा रेखाओं का और शहर में छाये हुए भय और आतंक का स्वरूप नगरबोध से जुडकर जीवन को विषाक्त कर देता है । इस विषैली हवा में जीवन जीते जाते विश्वास और अविश्वास के बीच से गुज़रनेवाले पात्र हमारी समाधा के शिकार बनते हैं । नगर चेतना का सकारात्मक पक्ष व्यक्ति को स्वतन्त्र जीवन जीने के लिए प्रेरणा देता है और नारी को भी स्वतन्त्र छोड देने का आदेश देता है । शहर की खुली सडकें, चहल पहल से युक्त दफ्तरों एकान्त की तलाश में खोये रहनेवाले व्यक्तियों की संकल्पनायें आदि से जुडा हुआ नगरबोध सुनहरी रोशनी को फैलाता है और उस रोशनी की छाया में जीवन को एक सीमा तक आतरंजनाओं का केन्द्र बना देता है ।

आठवें दशक के उपन्यास में उन नगरों के जीवन का वैविध्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया है जिनका विकास आज़ादी के बाद हुआ है । ये शहर एकदम उभरे थे और यान्त्रिक संस्कृति के परिणाम के रूप में विकसित होते हैं । यहाँ आकर रहनेवाले लोग एक दूसरे से अपरिचित होते हुए अजनबीपन के शिकार बनते हैं । साथ ही शहरीकरण की प्रक्रिया से जुडी हुई समस्याओं ने व्यक्ति संबंधों को खोखला कर दिया । परिणाम स्वरूप जो कुण्ठा, मानसिक रुग्णता, संबंधों की अर्थहीनता, अर्थ की सर्वोच्चता, पशुबल की श्रेष्ठता आदि का शिकार होकर मनुष्य एक यान्त्रिक

जीवन बिताते हैं । इन्हीं स्थितियों का चित्रण आठवें दशक के उपन्यासों में अवश्य मिलता है ।

"आपका बंटी" की शकुन और उसका पति अजय दोनों महानगर के जीवनबोध के नकारात्मक पक्ष के शिकार है । साथ साथ रहकर साथ साथ चलकर एक का साथ दूसरा छोडना चाहता है और बीच में अनाथ हो जाता है बंटी । परंपरा कभी भी पति और पत्नी को अलग होने नहीं देता । परन्तु महानगर की संस्कृति परंपरा की लाश पर चलते हुए संबंधों को उखाडकर फेंक देता है । इस त्रासदी का भोक्ता बनता है बंटी जो आगामी पीढी का प्रतीक है ।

उधर अन्तराल भी महानगरीय परिवेश से जुडी हुई रचना है जिसमें शहर की ज़िन्दगी का एक दूसरा पक्ष उभरता है । विवाहिता श्यामा कभी भी अपने पति की नहीं हो पाती । पति उसके लिए एक पुरुष मात्र, जिसके साथ वह विवशतागस्त होकर जीवन बिताती है । पति और पत्नी के आदर्श संबंध उनके बीच नहीं रखते । यान्त्रिक मनस्थिति के साथ श्यामा जीवन बिताती हैं और पति के नष्ट होने पर वह उन पर निरपेक्ष रूप में विचार करती है । संबंधों की यह यान्त्रिकता नगरबोध का ही परिणाम है । वह एक ऐसे पुरुष की तलाश में है जो तन के साथ मन का भी पार्टनर बने । परन्तु कुमार के पास शहर इतनी संवेदना नहीं छोडता । इसलिए कुमार श्यामा के शरीर को पाना ही एक सत्य मानता है । शहर की ज़िन्दगी में लगाव के क्षण कम होते है और अलगाव के क्षण ज़्यादा है । इसी का प्रमाण श्यामा और कुमार प्रस्तुत करते हैं ।

चित्तकोबरा तो महानगर की सेक्स रूपी प्यालिनी के महादंश से विषाक्त होनेवाली रचना है । मनु शहरीकरण के परिणाम को भोगनेवाली आधुनिक नारी का स्वरूप कहीं कहीं प्रस्तुत करती है । शहर की ज़िन्दगी नारी को कभी कभी अतृप्त कामवासना का शिकार बना देती है । क्योंकि कभी कभी पति के पास पत्नी के लिए समय नहीं रह जाता । यान्त्रिकता से जुड़ी हुई दौड-धूप में पत्नी पीछे छूट जाती है और पति भी किसी दूसरे का हो जाता है । पति और पत्नी के बीच आनेवाला तीसरा व्यक्ति महानगरीय परिवेश का अटूट अंग बन गया है । इसके कारण परिवारों के अंदर दरारें बनने लगती है । दूसरे शब्दों में इसका कारण यह भी है कि पति और पत्नी एक दूसरे से ऊबने लगे है और ऊबाहट से मुक्ति पाने के लिए नये पार्टनरों की तलाश करते है । वैसे चित्तकोबरा की मनु काम ग्रान्थि से जन्मनेवाली रुग्णता की शिकार सी लगती है । ऐसी कुण्ठा ग्रस्त महिलाओं की कथायें महानगर के किसी न किसी मोड पर अवश्य दिखाई पड़ने लगती है ।

मुरदाघर में बंबई महानगर की जीवनगत विविधता से कटकर वहाँ की झुग्गी झोंपडियों में विवशता की ज़िन्दगी बितानेवाले इन्सानों की नारकीय स्थितियों का चित्रण है । महानगर के मुख्य प्रवाह से कटा हुआ यह स्थान द्वीप बन गया है । यहाँ केवल ज़िन्दा लाश मिलती है और इन्हें जीवित लाश या प्रेत की छाया कहना अधिक उचित है । भूख ने आदमी और जानवर में फरक खतम कर दिया है । भूख आदमी को क्या क्या करने के लिए मज़बूर करती है इसके यथार्थ दृश्य मुरदाघर में आदि से अन्त तक चित्रित है । यह उपन्यास आधुनिक

परिवेश की जटिलता, भयावहता तथा हिंसता का सही तस्वीर है । डा. महेन्द्र भटनागर के शब्दों में "मुम्बई या मुम्बई जैसे महानगर आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के चमकते दमकते तन पर कोढ का निशान है ।"[1]

मुरदाघर असल में महानगरों के नरक की तस्वीर प्रस्तुत करता है । आसमान को छूनेवाली मंजिलों की काली छाया के नीचे आलीशन और आराम की ज़िन्दगी को स्वर्ग की सीमा तक ले जानेवाले महानगरों के होटलों का नाक के नीचे कुत्तों के साथ जूठन के लिए लपटनेवाले नर पुत्रों की ज़िन्दगी असल में चौंका देनेवाली है । कुत्तेनुमा मनुष्य, कंकालनुमा वेश्या, उनका सौदा करनेवाले दलाल और हर कंकाल को, गरीब को जेल के अंधेरी कोठरी में मार मार कर मृत्यु को सौंपनेवाले राक्षस पुत्र पुलिस, ये सब हमें महानगर की अभिशप्तता का रूप समझने में सहायता देता है । महानगर में कोई किसी का नहीं होता । कोई संवेदना नहीं होती । ईमानदारी नहीं होती । सब को पैसों की ज़रूरत है । पैसे की प्राप्ति के लिए कोई भी काम अवैध नहीं । इस अवैधता की गंदी नालियों में कीडों के समान उछल कूद करनेवाले मनुष्य जीवन की विकृत, घृणित, कलुषित, अमानवीय और नरकीय स्थितियों के परिणाम का चित्र प्रस्तुत करते हैं ।

नगर चेतना का वैविध्यात्मक पक्ष उभारते समय आठवें दशक के उपन्यासकारों ने अनदेखी स्थितियों का बडा ही सशक्त चित्र

---

1. डा. महेन्द्र भटनागर - हिन्दी कथा साहित्य विविध आयाम - पृ. 169

प्रस्तुत किया है । यह चित्र इतने विविध है कि उनकी अतिरंजनाओं के बीच भी मानवीय त्रासदी के रंगों की वैयक्तिकता झलकती है । नारी, पुरुष, पति, पत्नी, पर पुरुष, पर स्त्री, चोर, बटवामार, लफंगे, वेश्यायें, जानवरनुमा मनुष्य, सब की हत्या करनेवाले पुलिस आदि के माध्यम से विविधता के दृश्य संजोये गये है । और इन दृश्यों के अंदर आठवें दशक के नगरों के ज़िन्दगी की झलक मिलती है । उपन्यास के दायित्वपूर्ण गति की सूचना ये दृश्य प्रस्तुत करते हैं ।

व्यक्ति और समाज उपन्यासों में

चर्चित उपन्यासों के कथ्यात्मक एवं अभिव्यक्ति संबंधी पक्षों पर विचार करते समय उपन्यास में चित्रित व्यक्ति और समाज की यथार्थता का अन्वेषण करना अत्यन्त आवश्यक बन जाता है । आठवें दशक के उपन्यासकारों ने व्यक्ति और समाज के विभिन्न पहलुओं को अपनी संपूर्णता में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । यह समग्रता युगबोध और सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार रूपायित होती दिखाई पडती है । इस कारण जिस समाज और जिस व्यक्ति का चित्रण आठवें दशक के उपन्यासों ने किया है वह युगीन परिस्थितियों के अनुकूल है । फिर भी किसी लक्ष्य बोध से अनुप्रेरित होते समय लेखकों ने समाज और व्यक्ति के स्वरूप को थोडी बहुत अतिरंजना से जोडकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । वस्तुतः व्यक्ति और समाज का जो चित्रण इन उपन्यासों में मिलता है वह आठवें दशक के यथार्थ को उद्भावित करने में सहायक हुआ है ।

समाज के भिन्न पहलुओं को प्रस्तुत करते समय पूर्वकालीन सामाजिक स्थितियों से भिन्न परिवेशजन्य स्थितियों की तस्वीर उभारकर रखने की कोशिश दिखाई पडती है । क्योंकि आठवें दशक का लेखक उस समाज का प्रतिनिधि है जिसने आज़ादी के बाद भी ज़िन्दगी के विविध प्रकार की प्रताडनाओं का सहन किया है । झूठ को सच मानकर चलने के लिए या आत्मनिर्वासन की स्थिति में पूर्णतया डूब जाने के लिए वह तैयार नहीं है । जिस समाज की ज़िन्दगी को उसने जिया है उस समाज की तलाश सभी दृष्टियों से करना लेखकीय दायित्व का महत्वपूर्ण अंश वह मानता है । उधर व्यक्ति को भी उसने उस परिवेशजन्य स्थिति की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास किया है । और ये व्यक्ति इकाइयाँ तो है लेकिन बिलकुल कटी हुई इकाइयाँ नहीं है । इनके इर्द गिर्द ऐसे संबंधों की डोरियाँ दिखाई पडती है जो व्यक्ति की अस्मिता को बहुमुखी आयामों से जोडती है । इसलिए इन डोरियों की तलाश भी करनी पडती है ।

आपका बंटी में अजय और शकुन आपसी तनाव से मुक्ति पाने के लिए तलाक कर लेते हैं । शकुन डा. जोशी से पुनर्विवाह कर लेती है और अजय भी मीरा के साथ विवाह कर लेता है । इस प्रकार पति-पत्नी के संबंध में दरार और उसकी तलाक में परिणति और इसके बाद पुनर्विवाह की स्वीकृति आदि एक स्वाभाविक परिणति है । और यह युगीन परिस्थितियों के अनुकूल भी है । लेकिन कथ्य की गहराई तक जाने पर मालूम होता है कि अजय और शकुन के बीच तलाक और पुनर्विवाह करने योग्य कोई कारण नहीं है । फिर भी छोटी मोटी बातों को लेकर

अजय और शकुन का अलग हो जाना और बच्चे को अनाथ बनाकर नई नई जोडियों की तलाश करने का चित्रण करके मन्नू भण्डारी ने समाज और व्यक्ति के स्वरूप को थोडी बहुत अतिरंजना के साथ प्रस्तुत किया है । फिर भी यह आठवें दशक के यथार्थ को उजागर करने में सक्षम है ।

अहंग्रस्त मानसिकता के कारण अन्तराल की नायिका श्यामा पति देव के साथ केवल शारीरिक रिश्ता ही बना पाती है । इस अधूरेपन के कारण देव की मृत्यु के बाद श्यामा कुमार के प्रति आकर्षित होती है । इस प्रकार दाम्पत्य विघटन और उसके फलस्वरूप किसी और के प्रति आकर्षण तो स्वाभाविक ही है । लेकिन उपन्यास में श्यामा और देव के दाम्पत्य विघटन का कोई उचित और युक्त कारण नहीं है । साथ ही साथ पति देव के साथ केवल शारीरिक संबंध और आत्मीय संबंध स्थापित करने में असमर्थ श्यामा प्रेमी कुमार के साथ बिना शारीरिक संबंध के आत्मीय संबंध स्थापित करना चाहती है । इसका भी कोई उचित कारण उपन्यास में नहीं है । उपन्यास की सीमा तो पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपनी इच्छानुसार पुरुषों के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करके जीना चाहती है । यह तो अत्याधुनिक नारी का जीवन दर्शन है । इसलिए मुझे लगता है कि राकेश ने "अन्तराल" में व्यक्ति और समाज के स्वरूप को पूर्वकल्पित और थोडी बहुत अतिरंजना के साथ प्रस्तुत किया है । फिर भी यह आठवें दशक के यथार्थ को उद्घाटित करने में सहायक है ।

पति के साथ समझौते के अभाव में चित्तकोबरा की नायिका मनु का दाम्पत्य जीवन विफल हो जाता है । इस विफलता

के कारण मनु रिचर्ड के प्रति आकर्षित होती है । और उसके साथ शारीरिक रिश्ता भी जोडती है । डा. आशा मेहता कहती है - "चित्तकोबरा की नायिका मनु रिचर्ड के सहज प्रेम और महेश की ऐंन्द्रियता में अपने को विभक्त महसूस करती है ।"[1] इस प्रकार दाम्पत्य विघटन किसी और के प्रति आकर्षण उसके साथ शारीरिक संबंध आदि स्वाभाविक है ।

उपन्यास में चित्रित कथ्य के अनुसार महेश की उपेक्षा के बाद भी मनु प्यार पाने के लिए तत्पर है । लेकिन महेश की उपेक्षा का कारण उपन्यास में नहीं है । सेक्स को प्रमुखता देनेवाली मनु की पति प्रतिबद्धता का कारण भी समझ में नहीं आता । मनु को शरीर भोग की उत्कट लालसा है और यह "उत्कट लालसा" भी उस औरत की है जो दो बच्चों की माँ भी बन गयी है । पूरे उपन्यास में मनु के उन्मुक्त रत्यात्मक जीवन का वर्णन है । इसलिए मुझे लगता है कि इस उपन्यास में भी लेखिका ने व्यक्ति और समाज के स्वरूप को पूर्वकल्पित और थोडी बहुत अतिरंजना के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । फिर भी इस उपन्यास में व्यक्ति और समाज का जो चित्र उभरता है वह आठवें दशक के यथार्थ को आंशिक रूप में उजागर करने में सक्षम है ।

"नाच्यौ बहुत गोपाल" में नागरजी ने समाज की सर्वथा उपेक्षित मेहतर जाति की समस्याओं को एक व्यापक धरातल पर

---

1. डा. आशा मेहता - स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैचारिकता- पृ. 204

प्रस्तुत किया है । उपन्यास की नायिका पवित्र ब्राह्मण कुल में जन्म लेने पर भी अपनी भोगवादी इच्छा की पूर्ति के लिए भंगी मोहना के साथ भाग जाती है और परिस्थितिवश ब्राह्मणी से मेहतरानी बनती है । उपन्यास में मेहतरों की दयनीय दशा और उन पर उच्चवर्ग द्वारा किये गये शोषण का भी चित्रण है । उच्चवर्गीय संस्कार के दोगलेपन की प्रतिक्रिया के आक्रोश से भरा हुआ मोहना का कथन है "मुझे नफरत है इन ऊँची कौमवालों से, साले सोहबत के शौक में हमारी औरतों को अकेले में दबोचते है और फिर उन्हीं से जो बच्चे होते हैं उन्हें छूते हुए भी घिनाते है ।"[1] यह प्रतिक्रिया हमारे सामाजिक परिवेश की सही अभिव्यक्ति है । उपन्यास में चित्रित इस परिस्थितिजनित यथार्थ कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण बन जाता है ।

मुरदाघर में समाज के जीवित मुरदों की कथा है । याने जीने के लिए वेश्यावृत्ति करनेवाली औरतें, भूख के कारण चोरी करनेवाले इनसान, भीख माँगनेवाले बच्चे आदि इस उपन्यास का पात्र हैं । परिस्थिति के दबाव के कारण ये पात्र शरीर बेचते हैं या चोरी करते हैं और उनका इस प्रकार होना स्वाभाविक भी है । भूख और गरीबी के कारण आदमी की गिरावट का नग्न चित्र है इस उपन्यास में । उपन्यास में उभरनेवाली यथार्थ की स्थितियाँ परिस्थिति जन्य है जो महानगरों की विशेष परिस्थितियों के अनुरूप है ।

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 117

लाल पीली ज़मीन में गोविन्द मिश्र ने छोटे शहरों की ज़िन्दगी के अनेक पहलुओं को उभारा है । उपन्यास में सर्वत्र अराजकता की स्थिति व्याप्त है और इसलिए उपन्यास का परिवेश भी आतंक से भरा हुआ है । उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र भय, पीडा, विवशता, क्रूरता, अनीति, अत्याचार, अन्याय, अकेलेपन आदि के शिकार हैं । इस आतंकित परिवेश के प्रति उपन्यास का नायक केशव संघर्ष करता है और परिवर्तन के लिए प्रयत्न करता है । लेकिन सत्ता की क्रूरता के कारण उसको हारना ही पडता है । लाल पीली ज़मीन का व्यक्ति और समाज सारे देश के "व्यक्ति और समाज" का प्रतिनिधित्व न करते हुए भी उन स्थितियों को अवश्य उभारता है जो देश के किसी न किसी कोने में दिखाई पडता है । यानी दूसरे शब्दों में लाल पीली ज़मीन की स्थितियाँ धीरे धीरे देश भर में व्याप्त होनेवाली स्थितियों की सूचना देती है । इसमें जीवित व्यक्ति आतरंजनाओं से युक्त होते हुए भी आधारभूत सच्चाई की दृष्टि से यथार्थ से जुडते है ।

"प्रतिबद्ध" और "समय बीता हुआ" नामक उपन्यासों में भी उच्चवर्ग द्वारा निम्न वर्ग का शोषण चित्रित है । प्रतिबद्ध में फैक्ट्री मैनेजर सेठ साहब और उनके इशारों पर नाचनेवाले अधिकारी वर्ग हरिलाल और उनके साथियों का शोषण करते हैं । "समय बीता हुआ" में खदान मैनेजर चैटर्जी और कारखाने का मैनेजर गणपति दोनों आनन्द और उसके मज़दूर साथियों का शोषण करते हैं । इन दोनों उपन्यासों में समाज का वह स्वरूप व्यक्त होता है जो मज़दूरों की और मालिकों की दृष्टि के अंतर को समझाता है । मालिक भी व्यक्त होता है मज़दूर भी ।

मालिकों का भी समाज होता है, मज़दूरों का भी । परन्तु उनके कहीं भी समानता नहीं हो सकती । क्योंकि एक वर्ग सर्वहारा है दूसरा सत्तायुक्त । इनके बीच जो यथार्थ है वह सामाजिक यथार्थ सही स्वरूप प्रस्तुत करता है । परन्तु इनमें से किसी भी पक्ष का स असंभावित बात है ।

कटरा बी आर्ज़ू में आपातकालीन परिवेश और परिवेश में सरकार द्वारा लोगों पर किये जानेवाले अत्याचारों अं शोषण का चित्रण है । आपातकालीन परिस्थिति में इस मुहल्ले के अपनी माँगों की पूर्ति के लिए संघर्ष करते है । लेकिन इमरजेंसी उन के स्वप्नों को और सहज ज़िन्दगी को छिन्न भिन्न कर देती है । के शोषण के संबंध में एक मेकानिक कहता है "यहाँ दिन भर काम कर पेट न भरे । उहाँ (जेल) दिन भर काम करो तो पेट भर खाना ज़ मिलता है । हम सोच रहे हैं कि कौन तरकीब करके जेल चले जायें याने वहाँ के लोगों की दृष्टि में जेल में रखना वहाँ रहने से भी बेहत

वस्तुतः इस उपन्यास में आपातकालीन राजनैतिक स्थितियों का और दमन नातियों का पर्दाफाश हुआ है । "कटरा आर्ज़ू" एक सवाल हमारे सामने खडा कर देता है । सवाल यह है कि आपातकाल की घोषणा क्यों हुई कैसे हुई और किस के लिए हुई ?

---

1. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्ज़ू - पृ. 42

इस सवाल का जवाब न राजनेता जानता है न साधारण आदमी । क्योंकि जो होना था सो हो गया । सारे देश में आपातकाल के संबंध में यही जवाब उभरता है ।

महाभोज की स्थिति अन्य उपन्यासों से भिन्न है । राजनैतिक खेल के अनदेखे पक्षों पर प्रकाश डालने की कोशिश इसमें प्रतिपादित यथार्थ को चौंका देनेवाला बनाता है । राजनैतिक चाल को गुण्डेवाले लोग आगजनी हत्याकांड और खून खराबा किस तरह चाहते है इसकी तस्वीर महाभोज में है । राजनीति समाज को पंगु बनाना चाहती है और मार्ग गिराना चाहती है । गिरे हुए समाज के व्यक्तियों की लाशों पर चोंच मारकर महाभोज का स्वाद लेना चाहती है । वैसे ये राजनैतिक गीदड समाज की आँखों से छिपे रहते है । यह एक सत्य है और कम पहचाना गया सत्य । हरिजन रोते रहे । उनके वोट मिलते रहे । व्यक्ति अपराध करते रहे । सत्ता उसे छिपाती रहे । समाज के लोग भ्रम में पडते रहे और भ्रमित करनेवाला, दूसरों की आँखों में धूल झोंकनेवाला बचाता रहता है । इसी खेल की कहानी है महाभोज में ।

आलोच्य उपन्यासों में व्यक्ति और समाज का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है वह आठवें दशक की जिन्दगी का वैविध्यात्मक पक्ष उभारकर रखता है । स्वातंत्र्योत्तर कालीन समाज में दिखाई पडनेवाली स्थितियों, कुरूपताओं और विसंगतियों का स्वरूप प्रस्तुत करने में

ये उपन्यास भरसक प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं । नारी और पुरुष के संबंधों की विविधता को, अहंग्रस्त स्वरूप को, प्रस्तुत करते समय जीवन के संघर्षमय दिशाओं का भी अन्वेषण रचनाकारों ने प्रस्तुत किया है । सत्ता के द्वारा किये जानेवाले अन्याय, राजनैतिक धाँधली और मूल्यच्युति के चित्र आठवें दशक के व्यक्ति और समाज के संबंधों को समझने में अधिक सहायक सिद्ध होते हैं । वस्तुतः व्यक्ति एक इकाई के रूप में मात्र नहीं सामाजिक सत्य के भोक्ता के रूप में भी प्रस्तुत होता है । आतरंजनाओं से युक्त होते हुए भी कथ्यात्मक स्थितियों के अंदर प्रकट होनेवाला यथार्थ व्यक्ति और समाज के बीच विद्यमान संबंधों की पुर्नव्याख्या करता है और संभाव्य संबंधों की ओर संकेत भी करता है ।

उपन्यासों की गति और स्थिति की परीक्षा करने के बाद जो निष्कर्ष हमारे सामने उभरता है वह यह सिद्ध करता है कि आठवें दशक के उपन्यास में वस्तुपरक यथार्थ का अन्वेषण है । ज़िन्दगी के बहुमुखी आयामों की तलाश करने की कोशिश है । समूचे समाज के पारच्छेद का चित्रण है जिसके अंदर नंगे भीखमंगों से लेकर राजनिवासों में रहनेवाले अमीरों और राजनेताओं तक की कहानी है । इस कहानी के अंदर परिवेशजन्य यथार्थ का, आठवें दशक में छाये हुए आतंक का, भ्रष्टता की आँख मिचौनी का, अस्मिता की तलाश करनेवाली नारी पुरुषों का समन्वित जीवन बोध झलकता है । इस कारण आठवें दशक के उपन्यासों की स्थितियाँ कल्पना से युक्त होते हुए भी यथार्थ को नहीं नकारती । बदले कल्पित स्थितियों में यथार्थ की भयानकता, समाज की निष्क्रियता, मौन रहने की प्रवृत्ति, स्वार्थपरकता, संबंध विच्छेदों की स्थितियाँ

आदि का मरसक चित्रण प्रस्तुत करने में उपन्यास सक्षम निकलता है । जहाँ तक गति का सवाल है यह स्पष्ट होता है कि उपन्यास आनेवाले दशकों की ओर और उनकी ज़िन्दगी की संभावनाओं की ओर संकेत करने से नहीं चूकता । दूसरे शब्दों में आद्यन्त उपन्यास में गत्यात्मकता बनी रहती है । इस गत्यात्मकता की गहराई में मानव के मूलभूत संघर्ष, विद्रोह, स्वतन्त्रता की तलाश, और नये जीवन बोध की कल्पना पूर्ण रूप से विद्यमान है । स्थितियाँ इस गत्यात्मकता का समर्थन अवश्य करती है । और स्थिति और गति के बीच में समन्वय की सारी संभावनायें उभरकर आती है ।

चौथा अध्याय

प्रतिबद्धता के स्वर और दिशा की खोज

चौथा अध्याय

प्रतिबद्धता के स्वर और दिशा की खोज

प्रतिबद्धता

प्रतिबद्धता एक ऐसा शब्द है जिसकी परिभाषा साहित्यिक संदर्भों में विशिष्ट एवं अतिसंकीर्ण मानी जाती है । आधुनिक लेखन के आयामों पर विचार करते समय अधिकतर इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि लेखक की प्रतिबद्धता कहाँ तक मानवीय संदर्भों से जुडती है और कहाँ तक उससे अलग पडती है । "वैसे अंग्रेज़ी शब्द "कमिटमेंट" के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रतिबद्धता का प्रयोग हिन्दी में होता आया है ।"[1] लेकिन कमिटमेंट शब्द एक ऐसे अर्थ को प्रस्तुत करता है जो साधारणतया स्वीकृत साहित्यिक उद्देश्य या लक्ष्य से भिन्न एक सीमित और अत्यधिक सूक्ष्म लक्ष्यबोध की ओर हमारा ध्यान केन्द्रित करता है । इसलिए आज के संदर्भ में प्रतिबद्धता का अर्थ सामान्य न होकर विशिष्ट हो जाता है । इस पर विचार करने के पूर्व ही उस शब्द की अर्थव्याप्ति की परीक्षा करना समीचीन होगा ।

प्रत्येक लेखक से यदि यह पूछा जाय कि वह क्यों लिखता है और किसके लिए लिखता है तो प्रतिबद्धता से संबंधित या उससे अलग दोनों प्रकार की प्रतिक्रियायें व्यक्त होने लगती है । साहित्यकार जब भी रचना करता है तो रचना का आधार कहीं न कहीं मानवीय संवेदना से जुडता है ।

---

1. मानक हिन्दी-अंग्रज़ी शब्द कोश

इस दृष्टि से हर साहित्यकार अपनी रचना को मानवीय पक्षों से "बद्ध" किये बिना नहीं रह सकता । इस "संबद्धता" को प्रतिबद्धता कहना उचित नहीं है । प्रतिबद्धता में सिर्फ एक ही पक्ष की ओर लेखक बद्ध होता है, जबकि संबद्धता में एक से अधिक पक्ष की ओर लेखक बद्ध होता है । वस्तुतः लेखन का कच्चा माल यह मानवीय संदर्भ एवं संवेदनायें हैं जिसके अभाव में रचना नहीं की जा सकती । इसका यह अर्थ हुआ कि प्रथम एवं प्रधान रूप में हर लेखक मानवीय पक्षों को चित्रित किये बिना नहीं रह सकता । दूसरे शब्दों में लेखक का दायित्व मानव के किसी न किसी पक्ष पर आधारित संकल्पना पर केन्द्रित होता है । इसको नकारते हुए रचना असंभव हो जाती है ।

लेकिन प्रतिबद्धता को सिर्फ एक बचकानी वृत्ति ही मानकर साहित्य में उसे अस्वीकारनेवाले लेखक भी हैं जिनके अनुसार प्रतिबद्धता का एक मात्र लक्ष्य साहित्यकार के स्वतंत्र विकास को अवरुद्ध करना है । "प्रतिबद्धता एक ऐसी नागफाँस है जो व्यक्ति को मात्र कुंठित करती है, उसे एक दायरे में कैद कर देती है - वह दायरा चाहे राजनीति का हो या सामाजिक मर्यादाओं का या साहित्यिक चिन्तन का । मैं प्रतिबद्धता शब्द में एक विशेष अपराधवृत्ति पाता हूँ और इसलिए मुझे लगता है कि इस घातक विष के कुपरिणामों से आज के साहित्यकार को बचना चाहिए ।"[1] इस पक्ष के प्रस्तुतीकरण में या उसके आविष्करण में जिस दृष्टि को अपनाया जाता है वह लेखन की दिशा एवं संभावना को मौलिक रूप में परिवर्तित करती है ।

---

1. जगदीश चतुर्वेदी - दस्तावेज़ - पृ. 20

रचयिता की दृष्टि कम से कम दो प्रेरणाओं से प्रभावित हो सकती है । एक वह अन्तप्रेरणा है जिसके आधार पर वह "स्व" अनुभवों को अपनी निजी मान्यताओं के आधार पर लेखन में प्रतिष्ठित करना चाहता है । और दूसरी प्रेरणा वह है जिसका आधार किसी बाहरी दर्शन या राजनैतिक दर्शन है जिसके प्रति लेखक बंधा हुआ है । प्रथम प्रेरणा अपनी स्वानुभूतियों पर और वैयक्तिक रुचि पर या इच्छानिच्छा पर आधारित होने के कारण "स्वकेन्द्रित" संबद्धता को जन्म देती है । इस तरह के लेखन में अपने प्रति, अपने विचारों के प्रति, भोगे हुए अपने यथार्थ के प्रति एक प्रतिबद्धता जन्म ले सकती है जो लेखक को अपने प्रति प्रतिबद्ध बना लेती है । "आज का विद्रोही साहित्यकार प्रतिबद्धता के प्रति कोई आकर्षण नहीं रखता । वह अगर किसी से प्रतिबद्ध है तो अपने आन्तरिक संघर्ष से, अपनी गुत्थियों, अपने अव्यवस्थित और बेनकाब व्यक्तित्व से ।"[1] समाज निरपेक्ष और अहं सापेक्ष इस दृष्टि में कलात्मक प्रयोग एवं प्रयोगात्मक विधान प्रतिबिंबित होता है जो कलाकार के आत्माविष्करण पर ही ज़ोर देता है और इस कारण समाज का निर्धारित लक्ष्य उपलब्धियों से कटा हुआ होता है ।

दूसरी प्रकार की प्रेरणा से जन्म लेनेवाला लेखन लेखक को अपने व्यक्तित्व से वंचित कर देता है और किसी राजनैतिक दल के समर्थन के लिए लिखने के लिए बाध्य करता है । यहाँ रचना एवं रचनाकार की दृष्टि सम्यक् एवं संतुलित न रहकर उस सिद्धांत विशेष की आड में जीवन की व्याख्या करने की एकांगी दृष्टि बन जाती है । यहाँ लेखक सिद्धांत विशेष

---

1. जगदीश चतुर्वेदी - दस्तावेज़ - पृ. 20

के प्रति संबद्धता दिखाता हुआ जीवन की संपूर्णता को तटस्थ रूप से देखने से वंचित रह जाता है । इस तरह की प्रतिबद्धता लेखक को वाद-विशेष के खेमे में बन्द कर देती है ।

वाद विशेष से संबद्ध होकर लेखक किसी न किसी वर्ग, दर्शन या सिद्धान्त के प्रति पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टि अपनाने को बाध्य बन जाता है । सिद्धांत के प्रति होनेवाला मोह और पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टि मानवीय संदर्भों में न्याययुक्त निर्णय लेने में बाधक बनते है । दूसरे शब्दों में जाने अनजाने में वाद विशेष से संबद्धता दिखानेवाला लेखक कहीं न कहीं एक वर्ग क्षेत्र या विभाग का शत्रु बन जाता है । यह शत्रुता मानवीय हित के लिए कल्याणकारी नहीं होती । समसामयिक जीवन बोध से प्रेरणा ग्रहण कर लिखित लेखन के कार्य में रत होनेवाला लेखक प्रगतिवादी विचारों की प्रतिबद्धता के कारण हर समस्या का अंत प्रगतिवाद में ढूँढ निकालता है । उसकी दृष्टि में आज की सारी समस्याओं का समाधान समाजवाद की स्थापना से हो सकता है । पूर्वाग्रहपूर्ण इस दृष्टि के कारण युग सत्य को अपने सही मायनों में समझने में वह असमर्थ रहता है । वस्तुतः वाद विशेष से प्रतिबद्ध होकर सर्जनात्मक क्षेत्र में प्रवेश करनेवाला लेखक वाद विशेष से जुडकर कभी सामाजिक चेतना से कट भी सकता है । इस स्थिति में उसकी रचनायें युग चेतना की दृष्टि से अप्रासंगिक भी हो सकती है । वाद विशेष से जुडा हुआ प्रतिबद्धात्मक लेखन युग चेतना के संयुक्त स्वरूप को समसामयिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में स्वीकारने में कहीं कहीं असफल हो जाता है और इस कारण से मूल रूप में अपने सांगत्य को नष्ट कर बैठता है ।

श्रेष्ठ रचनायें न तो लेखक की निजी अनुभूतियों के प्रति प्रतिबद्ध होती हैं न वाद विशेष के प्रति । मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठता पर आधारित होकर कालजयी सत्य के अन्वेषण में लगे रहकर मानव मात्र के प्रति प्रतिबद्धता दिखाना ही महान रचना की प्रतिबद्धता है । संक्षेप में असली लेखन की प्रतिबद्धता उस मानवतावादी चेतना के प्रति होनी चाहिए जो देश काल भाषा संस्कृति धर्म विश्वास एवं परंपरा की सीमा रेखाओं को तोडती हुई विश्व मानव की मूलभूत आकांक्षाओं को स्वरबद्ध करती है ।

विशिष्ट समाज के प्रति प्रतिबद्धता दिखानेवाले लेखक की रचनायें समाज विशेष की संकुचित दायरों को पार कर मानवीयता के व्यापक आयामों से जा जुडने पर उत्कृष्ट बनती है ।

प्रतिबद्धता को रूपायित करनेवाले तत्व

प्रतिबद्धता को रूपायित करनेवाले तत्वों का विवेचन करते समय पार्श्व भूमियों से गुज़रना पडता है । सब से पहले यह निश्चित करना पडता है कि लेखन में प्रतिबिंबित किस प्रकार की प्रतिबद्धता को हम मान्यता दें । दूसरे शब्दों में आलोचकों को यह निश्चित करना पडता है कि रचना का मूल्यांकन स्वानुभूतियों के धरातल पर या वाद विशेष के धरातल पर या मानवीयता के धरातल पर करना है । क्योंकि आज के लेखन में इन तीनों प्रकार की प्रतिबद्धता प्रकट होने लगी है और हर लेखक अपनी अपनी प्रतिबद्धता को समर्थित करने के प्रयास में लगा हुआ है । अधिकतर आलोचक आत्मकेन्द्रित

अनुभूतियों पर आधारित समाज निरपेक्ष प्रसंगों से युक्त वैचारिक और अनुभूति स्तर के चित्रण को प्रतिबद्ध लेखन के बाहर मानना उचित समझते हैं क्योंकि ऐसी रचनाओं में अधिकतः मानसिक विकृतियाँ या कल्पित परिस्थितियाँ ही उभर आती है । इन रचनाओं को अप्रतिबद्ध लेखन इसलिए नहीं कहा जा सकता कि यहाँ लेखक अपनी आस्था एवं आविष्करण की स्वतन्त्रता के प्रति जागरूकता दिखाता हुआ प्रतिबद्ध हो जाता है । समाज के बहुसंख्यक लोगों से इसका संबंध न होने के कारण व्यापक दृष्टि के आधार पर इसको नकारा जा सकता है ।

वाद विशेष के प्रति आग्रह और उसी के आधार पर लेखन करने की प्रवृत्ति वैसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के समर्थन के साथ शुरू होती है । इसलिए कुछ लोग प्रतिबद्धता को मार्क्सवादी चिन्तन की ही उपज मानते हैं । "साहित्य में प्रतिबद्धता का तत्व वामपंथी बोध की ही उपज माना जाता है ।"[1] उसी तरह पूँजीवादी संस्कारों की रक्षा करने के उद्देश्य से या अस्तित्ववादी विचारधारा को प्रश्रय देने के उद्देश्य से लिखी जानेवाली रचनायें भी प्रतिबद्ध लेखन की इस कोटि में स्थान प्राप्त करती है । इस प्रकार के लेखन में लेखक की दृष्टि एकांगी हो जाती है और लक्ष्यबोध से परिप्रेरित होकर कहीं न कहीं अमानवीय दृष्टिकोण का समर्थन करने को बाध्य बन जाती है ।

लेखन की प्रतिबद्धता को रूपायित करनेवाले तत्वों में लेखक के व्यक्तित्व को विकसित करनेवाली परिस्थितियाँ महत्वपूर्ण योगदान

---

1. धनंजयवर्मा - आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - पृ. 133

लेती है । लेखक की वैयक्तिक परिस्थितियाँ उसको कुण्ठाग्रस्त बनाने में, वाद विवाद के प्रति आकर्षण दिखाने में या उन्मुक्त भावना का वरण करने में सहायक सिद्ध होती है । साथ ही साथ सामाजिक सन्दर्भ भी उसके लेखन की प्रतिबद्धता को रूपायित करने में सहायक बनती है । "प्रतिबद्धता का संबंध एक लेखक के लिए उसकी उस सामाजिक चेतना से है, जो भाषा में अभिव्यक्ति होती है ।"[1] शोषण ग्रस्त समाज में जीनेवाला लेखक शोषण के विरुद्ध स्वर उठाने में प्रगतिवादी दृष्टि को अपनाता है । यह स्वाभाविक भी है । लेकिन शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए विश्वमानवता के पक्ष को वह उठाना चाहता है तो उसकी रचना प्रगतिवादी न बनकर मानवतावादी ही बन जाती है । इसका यह अर्थ होता है कि लेखन की शक्ति उन तत्वों पर आधारित होकर विकसित होती है । जो लेखक को अंदर से एवं बाहर से प्रभावित करती है । आन्तरिक संघर्ष एवं दर्शन की विशिष्टता उसको रुग्ण मानस भी बना सकती है । और स्वतन्त्र व्यक्ति भी । समाज की प्रतिक्रियायें, मर्यादायें और राजनैतिक दबाव भी रचना के चयन में विशिष्टता ला सकते हैं । और यही विशिष्टता कई स्तरों में आयामित होकर प्रतिबद्धता के उचित स्तरों में प्रकट होती है ।

प्रतिबद्ध लेखन की सीमायें और संभावनायें

लेखन की सीमारेखाओं को सुनिश्चित करना आलोचना के क्षेत्र के बाहर की बात है क्योंकि लेखन की सीमाबद्धता एवं विषय व्यापार की विशिष्टता पर अंतिम निर्णय लेने का अधिकार लेखक का होता है ।

---

1. प्रभात त्रिपाठी - प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य - पृ. 20

इसका अर्थ यह नहीं कि लेखक की कोई सीमाबद्धता नहीं है । मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि विषय, उसकी सांदर्भिकता, परिवेश और संप्रेषण की सूक्ष्मता आदि कुछ ऐसे तत्व है जो पाठक की संवेदना से जुडकर लेखन की रूपरेखा एवं सीमा रेखा को निश्चित करते हैं । इस कारण विषय, आविष्करण, परिप्रेक्ष्य क्षेत्र अनुवाचक की मनस्थिति और संप्रेषण की सफलता आदि कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनके आधार पर लेखन की सीमा रेखायें तात्कालिक रूप में तय की जा सकती हैं । याने कथ्यात्मकता, शिल्प-चयन और संवेदना का संप्रेषण ये तीनों लेखकीय अवधारणा को सुनिश्चित करनेवाले मुख्य तत्व हैं । "प्रतिबद्धता का संबंध मौलिक एवं प्रामाणिक अनुभूति, कर्मनिष्ठा, व्यक्तिगत आस्था और कलात्मक प्रेरणा से है ।"[1]

अवधारणा में प्रतिबद्धता के कई पक्ष उभर आते हैं । "स्व" के प्रति उन्मुख लेखक कथ्यात्मक एवं शैल्पिक विन्यास को अपनी स्वकीय अवधारणाओं के अनुसार रूपायित करता है । अपने प्रति या अपने विचारों के प्रति या अपने भोगे हुए यथार्थ के प्रति दायित्व दिखानेवाला लेखक अवधारणा की सीमारेखाओं को पार कर प्रयोगात्मक औन्नत्य की खोज में कलात्मकता की तलाश में निकल पडता है । इस कारण स्वकीय संकल्पनाओं का मात्र प्रतिपादन जिस लेखक में होता है वह लेखक सीमित प्रतिक्रिया की ही अपेक्षा करता है । इस कारण जनसाधारण की प्रतिबद्धता का अंश नहीं बनता । वस्तुतः आलोचक इस कोटि के लेखन को प्रतिबद्ध लेखन के व्यापक अर्थ सीमा के बाहर बाँध लेते हैं और एक प्रकार से प्रतिबद्ध लेखन के बाहर ही मानते हैं ।

---

1. देवेन्द्र इस्सर - साहित्य और आधुनिक युगबोध - पृ. 135

इस प्रकार के लेखन में कई कई असन्तुलन, रुग्ण मानसिकता एवं निराशाजनक दृष्टि प्रकट होने लगती है । उदाहरण के लिए भोगे हुए यथार्थ का अनुसरण करनेवाला लेखन पात्र चयन और परिस्थितियों के निर्माण में समसामयिक युग की मान्यताओं को और सामाजिक संकल्पनाओं को आधार मानकर चलते हुए उनका निराकरण करता है । इस प्रकार के आत्मप्रतिबद्ध लेखन में परिवेश का समूचा आयाम तत्कालीन युग की एवं उसकी चेतना की सृष्टि के रूप में उभर कर आता है । इस प्रकार आत्म प्रतिबद्ध लेखन की भूमिका को एवं उसकी पार्श्वभूमि को सजीवता प्रदान करने में उस युग विशेष की सामाजिक आर्थिक और नैतिक संकल्पनायें अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान की जिम्मेदारी निभाती है ।

दूसरी प्रकार की प्रतिबद्धता वहाँ प्रकट होती है जहाँ लेखक अपनी बात न कहकर दूसरों की बात किसी सिद्धांत विशेष की आड़ में खडे होकर कहने की कोशिश करते हैं । सुनिश्चित विचारों से प्रभावित होकर राजनीतिक या सामाजिक परिवर्तन के माध्यम से समाज के दलित वर्गों की रिहाई की माँग करनेवाला लेखक उस विशिष्ट वाद के प्रति संबद्ध हो जाता है और इस कारण उसकी प्रतिबद्धता समाज के वर्ग विशेष की हो जाती है । उदाहरण के रूप में मार्क्सवादी विचारधाराओं को प्रश्रय देनेवाला लेखक प्रगतिवादी विचारों को प्रस्तुत कर परिवर्तन की कामना करता हैं और अपने व्यक्तित्व एवं दृष्टि को संपूर्णतया मार्क्सवाद में लिप्त कर देता है ।

इस प्रकार का लेखन प्रतिबद्ध लेखन अवश्य है परन्तु उसकी सीमायें मार्क्सवाद या वर्ग संघर्ष की सीमाबद्धता से ही जुडती है ।

परिणामस्वरूप मार्क्सवादी प्रतिबद्ध लेखन का आस्वादन प्रगतिवादी विचारधारा से जुडनेवाला व्यक्ति ही कर सकता है । सिद्धांत विशेष, आदर्श विशेष या वाद विशेष से अपने को पूर्णतः जोडना यद्यपि आधुनिक अर्थ में प्रतिबद्धता है लेकिन असली अर्थ में सीमाबद्धता का ही द्योतक है ।

परन्तु मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के प्रति संबद्धता दिखानेवाला लेखन कालजयी हो जाता है क्योंकि उसमें अभिव्यक्त विचार अनुभूतियाँ, स्थितियाँ, परिवेश और संघर्ष कथानुगत होते हुए भी सांगत्य को बनाये रखता है और मानव की मूलभूत चेतना के अनुरूप प्रमाणित होता है । भाषा क्षेत्र संस्कृति धर्म एवं परंपरा के साथ थोडा बहुत अंतर के प्रकट होने पर भी मानवीय संवेदनाओं के मूलभूत तत्व एक जैसे ही रहते हैं । संकल्पनाओं की मानवीय स्तर पर परीक्षा, प्रेम, संघर्ष आदि के स्तर पर किये जानेवाले निर्णय जातीय, वंशीय एवं क्षेत्रीय सीमाओं को तोडकर मानवीय चेतना के अखण्डनीय स्वरूप को पकडने में सार्थक होते हैं । और इस कारण इस तरह का प्रतिबद्धात्मक लेखन सारी मानवता की संपत्ति बन जाता है । मानवीय संस्कृति के प्रति और उसके अस्तित्व के प्रति दिखाई जानेवाली यह प्रतिबद्धात्मक साधना ही साहित्य को अमर अमिट एवं सब के लिए आस्वादन के योग्य बना देती है ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि मानवता के प्रति प्रतिबद्ध रचनायें आत्मनिष्ठ एवं वादनिष्ठ प्रतिबद्धताओं के समर्थकों को भी प्रभावित करने में सक्षम निकलती है । जबकि आत्मनिष्ठ एवं वादनिष्ठ रचनायें उन्मुक्त व्यक्ति या वर्ग के लोगों के लिए ही आस्वादन योग्य बनती है । विश्व भर के आस्वादकों को प्रभावित करने में वे असफल रह जाती है ।

सामाजिक प्रतिबद्धता

साहित्यकार जिस समाज में जीता है, उस समाज के प्रति उसका जो दायित्व है, उसे हम सामाजिक प्रतिबद्धता की संज्ञा से अभिहित कर सकते हैं । सृजनात्मक रचनाकार जिस समाज में जी रहा है, उससे प्रभावित हुए बिना नहीं सकता । क्योंकि उस समाज से ही वह अपनी रचना का कच्चा माल जुटाता है । समाज की हर समस्या से संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व से वह हमेशा प्रभावित रहता है । याने समाज के हर स्पन्दन से वह परिचित रहता है और अपनी रचनाओं के माध्यम से इन स्पन्दनों पर अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है । प्रत्येक सर्जनात्मक साहित्यकार इनको अभिव्यक्त किये बिना भी नहीं रह सकता । साहित्यकार अपनी लेखकीय दृष्टि के आधार पर ही इस प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देता है । यदि साहित्यकार की दृष्टि समाज-हित की भावना से प्रेरित हो और मानवीयता के विरुद्ध न हो, तो उस अभिव्यक्त दृष्टि को या प्रतिक्रिया को हम साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता कह सकते है । मानवीयता के प्रति जो प्रतिबद्धता है उसे नकारते हुए किसी भी सामाजिक प्रतिबद्धता के अस्तित्व को हम स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि सामाजिक प्रतिबद्धता को हमेशा मानवीयता के प्रति जो प्रतिबद्धता है, उसकी ओर उन्मुख होना है ।

समाज में हितकारी परिवर्तन लाने के संदर्भ में साहित्यकार के योगदान को हम भूल नहीं सकते । "साहित्य और साहित्यकार को सामाजिक परिवर्तन के लिए जाने-अनजाने प्रतिबद्ध मानना ही श्रेयस्कर है ।"[1]

---

1. पीतांबर सरोदे - आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक और आर्थिक चेतना - पृ. 2।

प्रतिबद्धात्मक लेखन के वैयक्तिक, सामाजिक एवं मानवीय पक्षों पर विचार करने से यह स्पष्ट होने लगता है कि प्रतिबद्धता एक ऐसा सूक्ष्म तत्व है जो लेखन की सत्ता को नई जीवतंता प्रदान कर सकता है । सर्जना की मूलभूत प्रेरणा को बनाये रखने में और रचना को महान भूमिका अदा करने के लिए समर्थ बनाने में प्रातबद्धता की दृष्टि श्रेष्ठतम दायित्व अदा कर सकती है । प्रत्येक रचना की प्रतिबद्धता को आँकने के लिए वाद विशेष की दृष्टि या वैयक्तिक इच्छानिच्छा की दृष्टि उतनी सफल न हो सकती जितनी मानवीय दृष्टि सफल होती है । इन्हीं कारणों से रचना की सार्थकता मानव के प्रति दिखाई गई पूर्वाग्रह रहित स्वतन्त्र दृष्टि पर आधारित होनी चाहिए ।

आठवें दशक के उपन्यासों में लेखक की इस प्रतिबद्धता का निर्वाह कहाँ तक सफलता से हुआ है, उसे समझने के लिए प्रत्येक उपन्यास का विश्लेषण अनिवार्य है ।

आठवें दशक के उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में समाज के अल्प संख्यक शोषकों द्वारा शक्ति, साधन एवं व्यवस्था के सहारे बहुसंख्यक शोषितों पर किये जानेवाले शोषण एवं अत्याचारों को यथार्थवादी दृष्टि से अभिव्यक्ति दी है । अमृतलाल नागर के "नाच्यौ बहुत गोपाल" में उच्चवर्ग द्वारा मेहतरों के शोषण का चित्रण है । उपन्यास की नायिका निर्गुणिया उच्च ब्राह्मण कुल में जन्म लेने पर भी परिस्थिति वश भंगी बन जाती है । वसन्तलाल जब निर्गुणिया से कहता है कि ब्राह्मण होने के कारण मेहतर के

साथ उसका भागना अभद्र है तब निर्गुणिया कहती है, "पचासों ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया, खत्री कायस्थ और मुसलमान जब इन मेहतरानियों के साथ बदकारियाँ करते हैं तब आपको बुरा नहीं लगता है ।"[1]

इस उपन्यास में मेहतरों के जीवन का चित्रण है जिसका शोषण पुलिस भी करती है । पुलिस मेहतरों की बस्ती में चमेली के यहाँ कुछ चोरी का माल जब्त करने जाती है । पर वहाँ पुलिस लड्डन का पता लगाने के लिए सामंती हथकण्डों का प्रयोग करता है । "लड्डन के पिता और मुहल्ले के अन्य पुरुषों के सामने लड्डन के घर की स्त्रियों के साथ खुले आम बलात्कार किया गया ।"[2] इस प्रकार वसन्तलाल एक अफसर बेगम का मकान एवं कर्ज सेठ से माफ करवा देता है और बदले में अपनी हवस उससे पूरी करता है ।

अपने वर्ग संस्कारों से मुक्ति की दिशा में नागर ने पहला कदम श्रीमती निर्गुणिया की - जो वर्णाश्रम व्यवस्था की सिर मौर ब्राह्मण सन्तान है - परिकल्पना एक मेहतरानी के रूप में करके उठाया है । मेहतरों की ज़िन्दगी पर लिखने के लिए नागरजी बेशक अपने वर्ग संस्कारों से मुक्त हो सके हैं । लेकिन अपने लम्बे और खून का हिस्सा बन चुके इन वर्ग संस्कारों से मुक्त हो पाना न तो बहुत आसान है और न ही यह सब कुछ थोडे समय में मुमकिन है । निर्गुणिया जब अंशुधर शर्मा को मोहना की भाई का मल उठाने वाला प्रसंग सुनाती है तो अंशुधर शर्मा की प्रतिक्रिया होती है

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 151
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 114

"मैं अपने जी की बात कहूँ कि मुझे, उस समय श्रीमती निर्गुणिया के सामने बैठना भी भारी लग रहा था । सुनते हैं एक बार कामशास्त्र संबंधी प्रश्नों के उत्तर देने के लिए शंकराचार्य ने अपने प्राण अपनी देह से निकाल कर एक तुरन्त मरे हुए राजा की देह में प्रतिष्ठित किये थे और राजदेह द्वारा कामजनित अनुभव ग्रहण किये, मगर मैं अपनी कल्पना से यह काम भी नही कर सकता । सारी प्रगतिशीलता के बावजूद मेरे अभिजात सामन्ती संस्कार अब तक कायम है ।"[1] अमृतलाल नागर के वर्ग संस्कारों की इस सहज स्वीकृति ने यदि एक ओर संस्कार मुक्ति के लिए आत्मसंघर्ष की समूची प्रक्रिया को स्पष्ट करने में मदद पहुँचायी है तो दूसरी ओर अतिक्रमण को किसी कदर विश्वसनीय और प्रामाणिक भी बनाया है ।

अपने अध्ययन और सर्वेक्षण के आधार पर नागरजी इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि "बेहतर कोई जाति नहीं है ।..... विजेता ने विजेतों को दास बनाकर जबरदस्ती मलमूत्र उठवाना आरंभ किया । खपच-पंडाल आदि जातियाँ सवर्ग नारियों के अपने नीचे वर्गों से संभोग करने से उत्पन्न सन्तानों की श्रेणियों में आती है । बिखरे हुए कबिलों के कुछ कमज़ोर लोग भी दासदासीवत समझे जाते थे जिनका खानपान प्रचलित समाज के खानपान से अलग होता था । ऐसे लोगों को नैतिक और सामाजिक दृष्टि से बाद में अस्पृश्य माने जाने लगा और मुगलों तुर्कों के समय में यह विजित विजेता दम्भ संघर्ष की पुरानी परंपरा में तेज़ी से बढोत्तरी हुई ।"[2] यही कारण है कि

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. ।।
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 343

मेहतरों के एक ही परिवार में हिन्दू और मुस्लिम दोनों प्रकार के नाम और रीति-रिवाज़ मिल जाते हैं ।

बीसवीं शताब्दी में आर्य समाज और महात्मा गाँधी के आन्दोलनों और प्रयासों से बेशक उनकी दशा में परिवर्तन हुआ है । लेकिन धर्म और राजनीति के नाम पर लोगों ने अपने अपने ढंग से उनके इस्तेमाल में भी कोताही, नहीं बरती है । इसलिए निर्गुणिया का यह आक्रोश आसानी से समझ में आ जाता है - जो हूँ वही हो सकती हूँ..... जो होना चाहती थी वह अपनी इस ज़िन्दगी में हो नहीं सकती, क्योंकि सरकार मैं खूब जानती हूँ कि चाहे महात्मा गाँधी कहें, चाहे आर्य समाज वाले कोशिश करें, मगर कम से कम सौ-दो सौ - पाँच सौ बरसों तक तो हिन्दुस्तान बदलेगा नहीं । मेहतर को मेहतर ही रहना होगा ।'[1]

आठवें दशक के उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता के प्रति जागरूकता उभारनेवाली प्रस्तुत रचना एक ऐसी सचाई की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती है जो सदियों से निम्नवर्ग के जीवन को ग्रस्ती हुई उसको अभिशप्त कर देती थी । भंगी और ब्राह्मण एक ही समाज के पुत्र है लेकिन अर्थगत अभाव के कारण निम्न श्रेणियों में जीनेवाले सेवावृत्ति के शिकार बन जाते हैं । और हमेशा के लिए भंगी बनाये देते हैं । आज़ादी के बाद भी इस स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ । सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त इस विषय को उठाते समय भी संस्कारगत मानवीय प्रवृत्तियों को सूक्ष्म धरातल पर अंकित

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 300

करते हुए आगे बढ जाना नागर की मानवीयता के प्रति होनेवाली प्रतिबद्धता का भी परिचय देता है । इस दृष्टि से नाच्यौ बहुत गोपान वर्ग की, वंश की या नियति की कहानी मात्र न रहकर मानवीय स्थितियों की दुर्दशा की कहानी बन गयी है ।

प्रतिबद्धात्मक लेखन को एक ठोस आधार देनेवाला उपन्यास है सतीश जमाली का प्रतिबद्ध । इसमें उस ज़िन्दगी की तलाश है जो शोषितों के हाथों में खेली जा रही है । उस खेल की परिसमाप्ति की दिशा की खोज करना प्रतिबद्ध का ध्येय है ।

"प्रतिबद्ध" में सामाजिक आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु किये गये भारतीय जनता के संघर्षों को चित्रित किया गया है । इसमें एक मिल में काम करनेवाले मज़दूरों की दयनीय दशा और मिल मैनेजर सेठ साहब और उनके इशारों पर नाचनेवाले मज़दूरों द्वारा उन पर किये जानेवाले शोषण और अत्याचार की कहानी है । सामाजिक यथार्थ के प्रति निष्ठावान लेखक ने मज़दूरों की ज़िन्दगी की सचाई को इस ढंग से प्रस्तुत किया है । उपन्यासकार का कथन है - "मैनेजमेंट के कुछ पिट्ठुओं को छोडकर बाकी सब वर्करों का बुरा हाल है । किसी भी वर्कर की शिकायत को सुनवाई नहीं होती थी । मालिक लोग हर तरह से वर्करों को पीसने की कोशिश में रहते थे । डन्डे के ज़ोर से, धमकियों से सब को हाँका जाता था ।"[1]

---

1. सतीश जमाली - प्रतिबद्ध - पृ. 3।

मज़दूरों की स्थिति सुधारने के लिए, बेहतर सुविधाओं के लिए हरिलाल और उसके क्रान्तिकारी साथी आवाज़ बुलन्द करते है और इसके लिए सभी प्रकार के प्रयत्न करते है । लेकिन फैक्ट्रियों के मालिक गरीब मज़दूरों की आवाज़ को कुचलने के लिए अनेक प्रकार के षड्यन्त्र रचते हैं । मज़दूर संगठनों के सचिव फैक्ट्री मालिकों के खरीदे हुए गुलाम बन जाते हैं और मज़दूरों की हालत कभी नहीं सुधरती । उनकी माँगें कभी पूरी नहीं हो पाती और मालिकों का शोषण एवं दमन चक्र और तेज़ हो जाता है । मज़दूर मौत के शिकार हो जाते है और इन्सानी ज़िन्दगी खतरे में पड जाती है ।

मिलों की तानाशाही व्यवस्था किस प्रकार मज़दूरों की आर्थिक माँगों को ठुकराकर उनके संगठन की एकता को तोडने की साजिश में अन्ततः सफल होती है इसका बडा यथार्थ चित्रण लेखक ने किया है । मज़दूर अनेक बाधाओं के बावजूद अपनी एकता के बल पर संगठित होकर अपनी ज़रूरी माँगों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और एक सुनहले भविष्य की कल्पना करते हैं । हरिलाल का कथन यहाँ सार्थक है - "भैये घबरा तो नहीं रहे हो अपने अन्य को मज़बूत रखो हम हर हालत में मुकाबला करेंगे..... कल को मुझे भी मार दिया जा सकता है..... तब तुम्हीं लोगों को आगे आकर करना होगा ।"[1]

प्रतिबद्ध के संघर्षरत मज़दूर अपनी मंजिल तक पहुँच नहीं सकते हैं फिर भी वे संघर्ष करते रहते हैं । इस प्रकार सर्वहारा वर्ग के मज़दूरों

---

1. सतीश जमाली - प्रतिबद्ध - पृ. 32

की ज़िन्दगी और शोषक पूँजीपतियों की राक्षसी प्रवृत्ति को उभारकर लेखक शोषित एवं उपेक्षित वर्ग के प्रति करूण भावना को उजागर करने और शोषण की जानलेवा स्थिति के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट करके संघर्ष करते रहने का आह्वान देकर अपनी प्रतिबद्धता दिखाता है ।

"समय बीता हुआ" उपन्यास में भी आशीष सिन्हा ने श्रमिक संघटन की समस्या को उजागर किया है । पूँजीवादी व्यवस्था हमेशा श्रमिक संघटनों को कुचलने का प्रयास करती है । कभी शक्ति का सहयोग लेकर कभी सरकारी तंत्रों का सहारा लेकर और कभी अपने गुण्डों की सहायता लेकर मज़दूर संघटनों की शक्ति को आहत करती है । उपन्यास का नायक आनन्द व्यवस्था द्वारा नियुक्त वेल्फेयर ऑफीसर है । व्यवस्था उसको अपने वश में करने के लिए हर प्रकार के गूढतान्त्रों को अपनाती है । लेकिन आनन्द नेता बनकर मज़दूर रामभजन, शफ़ीक, कारो, मंडल आदि की सहायता से मज़दूरों की भलाई के लिए व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाता है । लेकिन आनन्द को बहुत अधिक कष्टों को सहना पडता है और वह नौकरी से निष्कासित भी होता है । फिर भी आनन्द पराजित होने के लिए तैयार नहीं होता । वह धैर्य के साथ आगे बढता है और श्रमिकों का एक नया संघटन तैयार करता है । लेकिन यह समझकर व्यवस्था उसकी माँगों को स्वीकार लेती है । और बडी चतुराई से आनन्द की हत्या कर देती है । इस प्रकार आनन्द के बहुत सारे प्रयत्नों के बावजूद भी व्यवस्था को बदलने में वह सफल नहीं होता । याने परंपरा से चली आ रही व्यवस्था को बदलने की शक्ति उसमें नहीं ।

यहाँ भी लेखक ने श्रमिक संघटन की समस्या और उस पर किये जानेवाले शोषण और अत्याचार का चित्रण करके इसकी ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है और इसी के विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रेरणा भी दी है । समय बीता हुआ एक ऐसी रचना है जिसमें सामाजिक प्रतिबद्धता का स्वर मालिकों की साजिशों की पृष्ठभूमि में उभारने का प्रयास किया गया है और इस उपन्यास में यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि लाख कोशिश करने पर भी भारत की समसामयिक राजनीतिक परिस्थितियों में मज़दूर अपनी लडाई जीत नहीं सकती । क्योंकि दमन अत्याचार और सत्ता की भ्रष्टनीति उनके विरुद्ध है, वास्तव में यह एक ज्वलंत सामाजिक सत्य है जिसकी आड़ में सारी मानवीयता का शिकार होता रहा है ।

नारी पर सामाजिक स्तर पर होनेवाले शोषण का जीवन्त नमूना है वेश्यावृत्ति । समाज को कुत्सित बनानेवाली इस वेश्या समस्या का कारण दूषित सामाजिक परिस्थितियाँ हैं । जब उसे परिवार से पेट भर रोटी नहीं मिलती, तब जीविका के लिए अपने शरीर बेचने को वह विवश हो जाती है । अपनी विवशता के कारण वेश्या बननेवाली अनेक नारियों का चित्रण जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने "मुरदाघर" में किया है ।

मुरदाघर की ये बेघर-बार औरतें अपने जिस्म को जो कुत्तियों-सुअरियों की तरह बेचती है - अल्प पैसों में या कभी धोखे से फोटक में - वह मज़े के वास्ते नहीं, यौन सुख के लिए नहीं, वरन् धन्धे के वास्ते । जिस्त जब तक बिक सकता है, तब तक बेचते जाना जैसे उनकी मज़बूरी है । उनकी

ज़िन्दगी का सिर्फ एक ही जलता हुआ सवाल है कि कैसे जले चूल्हा । भूख ने आदमी और जानवर का फर्क खतम कर दिया है । भूख आदमी को क्या क्या करने के लिए मज़बूर करती है इसका यथार्थ दृश्य मुरदाघर में आदि से अंत तक चित्रित है । भूख और रोग से लडते भिखारी, बाल भिखारी, जूठन की तलाश में घूमते बालक, भूख के कारण चोरी करने के लिए मज़बूर इन्सान आदि का भी चित्रण है उपन्यास में ।

उपन्यास के एक प्रमुख पात्र मैना अपने कटू अनुभवों से सभी युवती वेश्याओं को अवगत कराती है । वह सबों को समझती है कि बेहतर ज़िन्दगी के लिए वे अपने घरों को लौट जायें और कुछ काम करके अपना गुज़ारा करें । किन्तु यहाँ लेखक ने प्रेमचन्द की तरह किसी सेवासदन की स्थापना नहीं की है ।

मुरदाघर की वेश्यायें नाटकीय जीवन व्यतीत करती है । यहाँ प्रेमचन्द के सेवासदन की सुमन नहीं, जो कोठे पर भी पाकीज़ा बनी रहती है और वेश्यावृत्ति के नाम पर सिर्फ नाच गान करती है । मुरदाघर में चमेली जैसी युवतियाँ हैं, जिन्होंने यौवन की नादानियों के कारण गलत कदम उठाये और सामाजिक भय के कारण वेश्यावृत्ति करने को मज़बूर हुई । प्रेमचन्द की सुमन ने समाज के वैवाहिक और आर्थिक जीवन की समस्याओं के कारण वेश्या जीवन को अपनाया था । सुमन ने अपना मार्ग स्वयं चुना था किन्तु मुरदाघर की युवतियों को मार्ग चुनने के लिए विवश होना पडता है ।

हमारी ज़िन्दगी के यथार्थ एवं बदसूरत पक्ष को सामने रख देना ही मुरदाघर का लक्ष्य है । इसमें अभिव्यक्त जीवन की सारी विसंगतियाँ और विद्रूपतायें हमारे मन मानस को झकझोर डालती हैं । और हम चिन्तातुर हो उठते हैं कि आखिर इन मुरदाघरों का समाधान कब और क्या होगा ।

प्रेमचन्द ने वेश्या समस्या के समाधान के जो कारण सुझाये वे आदर्शवादी थे और यदि उन सुझावों पर अमल भी किया गया होता तो वेश्यावृत्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता था । जगदम्बा प्रसाद दीक्षित वेश्यावृत्ति की समस्या को एक दूसरे ढंग से उठाते हैं । वे वेश्यावृत्ति का कारण आर्थिक शोषण मानते हैं । एक ऐसी व्यवस्था है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को उचित ठहराती है और इस प्रकार एक बहुत बड़ा वर्ग अमानवीय और अनैतिक जीवन जीने के लिए मज़बूर किया जाता है । उनका विश्वास है कि सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन लाये बिना उस समस्या का कोई समाधान नहीं हो सकता ।

परोक्ष रूप में इस उपन्यास में भी सामाजिक प्रतिबद्धता के स्वरूप को कई विकृत सामाजिक सत्यों से जोडकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । "मुरदाघर" मरे हुए लोगों का घर है जहाँ लाशनुमा आदमी जीता है और मरता भी है । क्योंकि जीने का नाम भी मरना है ।

गोविन्द मिश्र के उपन्यास लाल पीली ज़मीन का परिवेश

आतंक से भरा हुआ है । सर्वत्र अराजकता की स्थिति व्याप्त है । लडकों के हरकतों को देखकर सब लोग आतंक से पीडित हैं । पुलिस सरकार और नेता लोग भी निष्क्रिय निकम्मी और भ्रष्ट हो गयी है । जंगली जीवन के पाशवी स्तर पर चलनेवाली इस आतंककारी दुनिया को गोविन्द मिश्र ने अपनी पूरी क्षमता और प्रतिबद्धता के साथ उभारा है ।

परिवार और व्यक्ति केन्द्रित यह कथा कोई वीरान प्रदेश की दास्तान नहीं है । एक अत्यन्त विषम चख-चख और हंगामों से भरे धाँधलियों से ग्रस्त घटनापूर्ण वातावरण की कथा है, जहाँ लोगों की सारी कर्म शक्ति निरर्थक प्रपंचों और समाज विरोधी हरकतों में व्यक्त होती है । इन सब से गुज़रते हुए पाठक को वैसे ही यातना खिन्न और क्षोभ होता है - और मन में अनेक सवाल उठते हैं । क्या हमारे कस्बों का सहज और नैतिकतापूर्ण जीवन मर चुका है ? क्या उसके परिवर्तन की सारी संभावनायें नष्ट हो चुकी हैं ? जो कुछ इस उपन्यास में चित्रित है वही इस जीवन की नियति है ?

प्रभाकर श्रोत्रिय के अनुसार "यथार्थ हमेशा "निम्न" का चित्रण ही नहीं होता - लेकिन निम्न के चित्रण का अर्थ समाज की स्वस्थता और उच्चाशयों की अवहेलना या अवमानना भी नहीं होता । इसलिए यदि किसी उपन्यास में अँधेरा, कपट, खून, व्यभिचार, हत्यायें चित्रित हैं और यदि उनका उद्देश्य बाज़ारू उपन्यासों और घटिया फिल्मों जैसा नहीं है तो वह निश्चय ही मनुष्य की आलोचनात्मक कार्मिक और संघर्षशील शक्तियों को

उकसाता है । हर व्यवस्था में, हर स्थिति में इन शक्तियों को मनुष्य के भीतर जिन्दा रखना एक ईमानदार लेखक का काम है । क्योंकि प्रत्येक व्यवस्था और स्थिति चाहे जितनी अच्छी हो, उसमें उनके विनाश के बीज, यानी अमानवीयता अत्याचार और बुराईयों के बीज होते ही हैं । इसलिए किसी भी स्थिति में यथार्थ के उस अंकन की जरूरत बनी रहती है जो संघर्षशीलता और प्रतिरोध को जन्म देती है । इसलिए यथार्थ चित्रण का अर्थ विषमताओं, विसंगतियों और अमानवीयता के विरुद्ध मनुष्य को खडा करना होता है ।"[1] इस दृष्टि से या इस उद्देश्य से गोविन्द मिश्र ने "लाल पीली ज़मीन" की रचना की है और इसमें उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता स्वयं उभर आती है ।

लाल पीली ज़मीन के कथ्य पर विचार करते समय कहीं कहीं इसकी अविश्वसनीयता उभरती है । परन्तु समूचे उपन्यास में एक ऐसा स्वर मुखरित होता है जो उखडी हुई धरती और उसके बीच जन्म लेनेवाले आतंक के पुत्रों की कहानी बनती है । ये पात्र अत्याचार, अन्याय, व्यभिचार, हत्या और आतंक के माध्यम से समूचे समाज की ज़िन्दगी को भयावह और नाटकीय बना देते हैं । लाल पीली ज़मीन के राक्षस पुत्र हर हरी धरती को रक्तिम और पीतवर्ण से युक्त श्मशान समान मृत धरती बना देती है । प्रतिबद्धता को उजागर करते समय लेखक ऐसे दुष्ट मानवों से समाज की रक्षा की प्रतिबद्धता को दुहराते हैं । प्रसंगवश स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जन समाज में व्याप्त व्यथा उत्पीडन और हिंसा का स्वरूप इस प्रतिबद्धता को अधिक सक्रिय बना देता है ।

---

1. गोविन्द मिश्र - सृजन के आयाम: सं. चन्द्रकांत बांदिवडेकर - पृ. 111

लेखकीय प्रतिबद्धता के स्वर को आपातकालीन स्थिति के परिवेश में प्रस्तुत करनेवाला चर्चित उपन्यास है कटरा बी आर्ज़ू । मानवीय आज़ादी पर किये जानेवाले अत्याचारों का और सत्ता की निष्ठुर दमन नीति का स्वर प्रस्तुत रचना में मुखरित होता है । राही मासूम रजा ने भारत में लागू किये गये आपातकालीन स्थिति का और उसके परिणामस्वरूप साधारण जनता पर होनेवाली पीडा का प्रतिबद्धात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करके एक अछूते पहलू का प्रस्तुतीकरण किया है ।

आपातकाल के उन्नीस महीने भारतीयों के लिए लंबे और भयानक दु:स्वप्न की तरह रहे हैं जिन्होंने गिरगिट की तरह तुरन्त रंग बदल लिया, याने भारतीयों के लिए वह बडा यातनादायक था । तानाशाही क्या होती है, आपातकाल ने इसका अनुभव हमें दिया । इस काल में भारतीय बुद्धिजीवियों के एक सीमित वर्ग ने कठोर मानसिक और शारीरिक पीडा को सहन किया । राही मासूम रजा का यह उपन्यास आपातकाल के अनुभव का औपन्यासिक रूप है ।

इस उपन्यास में राही मासूम रजा ने इमरजेन्सी के बारे में अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है - "इमरजेन्सी एक भयानक काली रात थी । श्रीमती गाँधी ग्रहण की तरह हमारे संविधान के चाँद को लग गयी थी, पर उस रात के खतम होने के बाद सबेरा नहीं हुआ । मुझे तो ऐसा लगता है कि एक रात खतम हुई और दूसरी रात शुरू हुई ।

इमरजेन्सी का लगाना या न लगाना केवल कोई राजनैतिक सवाल नहीं है । मुझे शर्म यह सोचकर आती है कि हिन्दुस्तानी बुद्धिजीवियों ने इसके खिलाफ कोई आवाज़ नहीं उठायी । कम्यूनिस्ट बुद्धि जीवि तो खुल्लम खुल्ला इमरजेन्सी का साथ दे रहे थे और हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास उन्हें क्षमा नहीं करेगा ।"[1]

इमरजेन्सी पर व्यंग्य करते हुए बिल्लो का कथन है - "बहुत अच्छा खयाल है । जब से इन्दिरा जी देश में इमरजेन्सी ला आयी हैं देश में बहुत तरक्की हुई है । पुलिसवाले कपडे की धुलवाई देने लगे हैं । चीनी और सोने के भाव में फरक हो गया है । हमरी तो भगवान से यही प्रार्थना है कि भगवान इन्दिराजी को ज़िन्दा रक्खे कि ऊ इमरजेन्सी बनाये रहें ।"[2]

"कटरा बी आर्ज़ू" की ज़िन्दगी आपातकाल स्थिति के लागू किये जाने के बाद नाटकीय बन जाती है । पत्रकार, आशाराम, देशराज, प्रेमानारायण, मास्टर बदल हसन नायाब जैसे पात्रों के द्वारा भोगी हुई यातनायें आज़ादी की काली रात की ओर उससे जुडी हुई विभीषिका को याद दिलाती है । कोई भी आवाज़ आपातकालीन गर्जन को चीरकर बाहर नहीं निकल पाती । जिस ढंग से ज़िन्दगी के मटमैलेपन

---

1. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्ज़ू - पृ. 116-117
2. राही मासूम रजा - कटरा बी आर्ज़ू - पृ. 225

को प्रस्तुत किया जाता है जिससे आपातकाल और आज़ादी के बीच की स्थितियों का स्पष्ट अन्तर झलकता है । इसके माध्यम से आज़ादी के प्रति प्रतिबद्धता को समर्थित करना लेखक की प्रतिबद्धता मालूम पडती है । आठवें दशक के उपन्यासों में इस प्रश्न को लेकर और कोई महान रचना प्रस्तुत नहीं होती । आठवें दशक की प्रतिबद्धता के विभिन्न स्वरों को समझने की कोशिश करते समय "कटरा बी आर्जू" का स्वर अपने आप में अत्यन्त विशिष्ट हो जाता है क्योंकि समूची जनता की जीवन्तता और उस पर किये जानेवाले वार का प्रतिक्रियात्मक आक्रोश इस उपन्यास में अपनी समूची पीडा ग्रस्त स्थितियों के साथ उभरता है ।

प्रतिबद्धता को राजनीतिक आयामों से जोडकर देखनेवाली एक सफल रचना है "महाभोज" । मन्नू भण्डारी ने आज़ादी के बाद जन्म लेनेवाली राजनैतिक तिकडमबाजी और उसके पीछे छिपे हुए राजनेताओं के भयानक चेहरों का असली रूप प्रस्तुत करके लोगों को चेतावनी दी है कि राजनेता वे नहीं है जो दिखाई पडता है । उसका मुखौटे दार चेहरा बहुत सारी धाँधलियों को छिपाने के लिए है । सचाई के स्वरूप को दफनाकर सत्ता को अपनाने की साजिश भारतीय राजनीति को च्युतिग्रस्त बना गयी है ।

महाभोज में सत्ता का मोह दा साहब और सुकुल बाबू से छूटता नहीं । फलस्वरूप दोनों के आचरण में गिरावट आती है । दा साहब अपनी कूटनीति के बल पर कुर्सी बचाये रखने के लिए यत्नशील जान पडते हैं ।

सुकुलबाबू किसी न किसी प्रकार पुनः सत्ता प्राप्त करने के लिए जी तोड प्रयत्न करता है । सत्ता के भूखे उन नेताओं की नज़र में अपना और अपने आदमियों का हित ही सर्वोपरि है । बात बात में गीता तथा गाँधीजी के उदाहरण पेश करनेवाले दा साहब की कथनी और करनी में भारी अन्तर है । अपने आदमियों को लाभ पहुँचाने के तिकडम में बिलकुल अयोग्य आदमी लखनसिंह को वे उपचुनाव में खडा कर देते हैं । यही उनका स्वार्थी होने का सबसे बडा प्रमाण है । असन्तुष्टों को प्रलोभन देकर अपनी तरफ मिलाने में भी वे माहिर हैं । एक निर्दोष युवक की मृत्यु को परसी हुई थाली समझ अपनी अपनी ओर घसीटना राजनीति के अपरूप को प्रदर्शित करता है । मतदाताओं को लालच देकर अपनी ओर करने के लिए किये जानेवाले हर प्रयत्नों का उल्लेख भी महाभोज में मिलता है । इसमें चित्रित दा साहब, सुकुलजी, पाण्डेयजी, लखन, अप्पा साहब, राव चौधरी आदि राजनैतिक नेता तरह तरह के चेहरे लिये सत्ता की लडाई लड रहे हैं । बिसेसर, बिन्दा, हीरा लोचन भैया, एस. पी. सक्सेना आदि दा साहब की शैतानियत के या आज की राजनैतिक मूल्यहीनता और सडाँध के शिकार बन जाते हैं । बिसेसर, बिन्दा और हीरा उस निम्न वर्ग के प्रतिनिधि है जिनकी लाश को राजनीति के गिद्ध नोच रहे हैं । जनता की सुरक्षा का प्रबंध करनेवाले स्वयं जनता के भक्षक बन जाते है और उन्हीं की रक्षा में उन्हें दिलचस्पी रहती है । डी. आई. जी. सिन्हा दा साहब के अनुकूल बिसू की हत्या की आखिरी रिपोर्ट तैयार करते हैं और उसके बदले में आई. जी. का प्रमोशन पा लेते हैं । पुलिस अधीक्षक सक्सेना ईमानदार एवं कर्तव्यनिष्ठ होते हुए भी मुअत्तल कर दिया जाता है । "मशाल" के संपादक दत्ता बाबू कागज़ का कोटा बढाने और सरकारी विज्ञापन पाने की लालच में फँसकर समाज के प्रति अपना दायित्व भूल जाता है ।

और दा साहब के हाथ की कठपुतली बन जाता है । मशाल का संपादक दत्ता और पुलिस डी. आई. जी. सिन्हा उन शिक्षित बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो किसी भी प्रकार के मूल्य को ताक पर रखकर अपने लिये अधिक से अधिक भौतिक सुविधायें जुटाते हैं ।

उपन्यास के अन्त में पुलिस की नौकरी से मुअत्तल सक्सेना अन्याय से लडने के लिए सन्नद्ध दिखाई देता है । आज की राजनीति का वास्तविक और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके मन्नू भण्डारी लोगों को इस अन्याय से लडने की प्रेरणा देती है ।

प्रतिबद्धात्मक लेखन का पक्ष भी इस उपन्यास की अन्तर्धारा में प्रवृत्तमान है । समाज को च्युत करनेवाले राजनैतिक यथार्थ को प्रस्तुत करके लेखिका ने एक नई लडाई लडने की बात अप्रस्तुत रूप में कही है । सामाजिक न्याय और सामाजिक कल्पना झूठे आदर्शों को लेकर चलनेवाले राजनेताओं के द्वारा संपन्न नहीं होता । असल में ये धोखेबाज राजनेता भारतीय मानसिकता की मृत लाश पर चोंच मारने के लिए उडते फिरनेवाले गीदड हैं जिनसे बचना बहुत ही मुश्किल है । प्रतिबद्धता के परोक्ष स्वर को उभरनेवाली प्रस्तुत रचना आठवें दशक के उपन्यास के एक और स्वर को मुखरित करने का सक्षम प्रयास है । सामाजिक यथार्थ राजनीतिक यथार्थ के साथ जुडकर किस तरह से च्युतिग्रस्त हो गया है इसका ज्वलन्त उदाहरण है महाभोज ।

संक्षेप में आठवें दशक के उपन्यास प्रतिबद्धता की दृष्टि से संपेत दिखाई पडती है । आत्मनिर्वासन, आत्मग्लानि, सत्य निषेध आदि से मुक्त होकर दायित्वपूर्ण दृष्टि को अपनाते हुए लेखन को आयामित करने का प्रयास उपर्युक्त उपन्यासों में दिखाई पडता है । प्रतिबद्धता के प्रति संपूर्ण आस्था को प्रकट करनेवाली ये रचनायें मानवीय संवेदनाओं से जुडकर स्थितियों की गहराई को परखने में समर्थ हुई हैं । इन रचनाओं में कहीं सामाजिक या जातिगत असंतुलन से जन्मी हुई दुविधाजनक स्थितियाँ है तो कहीं गरीबी, बेरोज़गारी, लाचारी से युक्त जीवन की विकृतियों का चित्रण है । उधर मज़दूरों की समस्या, मिल मालिकों का शोषण और क्रान्ति की असंभावित स्थितियाँ और आत्मदान देकर न्याय के प्रति लडनेवाली लडाइयाँ आदि उपन्यासों के एक पक्ष को अधिक ज़िन्दा दली से युक्त बना देती है । साथ ही साथ आपातकालीन स्थिति की विभीषिका और राजनैतिक चालबाजी के फन्दे प्रस्तुत कर प्रतिबद्धता के स्वर को साहित्येतर पक्षों से भी जोडने का प्रयत्न आठवें दशक के उपन्यास में दिखाई पडता है । वैयक्तिकता से युक्त पारिवारिक जीवन की स्थितियों पर आधारित उपन्यासों में लेखकीय दायित्व का बहुत ही सक्षम पक्ष उभरकर आता है जो एक स्वस्थ दिशा का सूचक है ।

सातवें दशक के उपन्यास से दृष्टि में अन्तर

सातवें दशक के उपन्यासों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अपने परिवेश के प्रति जितनी सजगता इस मोड से शुरू होती है उतनी उससे पहले नहीं थी । वैचारिकता, मनोवैज्ञानिकता और अन्तर्दृष्टि के नवीन आयाम उपन्यास के भावबोध को बदल देता है । सामाजिक विकृतियों

का अंकन जिस भावुक आदर्श से ढँका रहता था, उस आदर्श के आवरण को उपन्यासकारों ने उतार फेंका । जीवन सत्य का अंकन ही उपन्यास का मानदण्ड बन गया ।

सातवें दशक का उपन्यासकार बदलती परिस्थितियों को आत्मसात करता चला गया । "सातवें दशक के उपन्यास में आम आदमी की पीडा का सटीक अंकन हुआ है । विकृतियों के विरुद्ध आक्रोश का स्वर एक सामान्य विषय बन गया है । सामाजिक उपन्यासों में मार्क्सवादी जीवन दर्शन अपने अनेक रूपों में झाँकता हुआ दृष्टिगोचर होता है । कई उपन्यासों में व्यंग्य का स्वर स्थितियों की विभीषिकाओं पर निर्मम प्रहार करता हुआ दिखाई देता है ।"[1]

सातवें दशक के उपन्यास में अहमवादी और नकार का स्वर मुख्य है । याने "रचनाकार ने व्यक्ति, समाज और परिवेश के जटिल यथार्थ से जूझने समझने का जोखिम न उठाते हुए, संबंधों को उथली निगाह से परखा और साथ ही साथ अपने नितान्त वैयक्तिक अस्तित्व को संकट में पाया ।"[2]

सातवें दशक के उपन्यासकार के संदर्भ में ये अस्तित्व का

---

1. जय श्री बरहाटे - हिन्दी उपन्यास सातवाँ दशक - पृ. 243
2. सरबजीत - हिन्दी कहानी आठवें दशक - पृ. 17

संकट नहीं बल्कि एक रचनाकारोंकेअहम् का सवाल है । ऐसा प्रतीत होता है कि सातवें दशक के उपन्यासकार के भीतर का संवेदनशील आदमी अपने चारों तरफ के परिवेश में बिखरी विद्रूपताओं से टूटकर तहस-नहस हो गया । इस प्रकार आहत और हारा हुआ आदमी अपने आहत अहम् का विसर्जन अपनी रचना में करता है जो रचनात्मकता पर संकट कहा जा सकता है । लेकिन सातवें दशक के समाप्त होते ही ये दौर खुद समाप्त हो जाता है । अर्थात इस दशक के उपन्यासकारों ने अस्तित्व का जो संकट है, उसकी रीडिंग ली, महसूस (फील) नहीं किया । समाज के प्रति प्रतिबद्धता या सम्बद्धता का उसे ख्याल नहीं था, "यही वह समय था जब प्रयोगों और शब्दों के जंगल खडे किये गये और शब्द और अर्थ के बीच खाई पैदा की गयी ।"[1]

परिस्थितियों से प्रभावित मानव मन के अन्तर्जगत को परखने का प्रयास इस लालखण्ड के उपन्यासों में मिलता है । इन उपन्यासों में प्राप्त एक और महत्वपूर्ण बात पाश्चात्य दर्शन का प्रभाव है । फ्रायड, सार्त्र, नीत्से आदि के दर्शन की अभिव्यक्ति उपन्यासों में दिखाई देती है । लेकिन अतिबौद्धिकता एवं वैचारिकता से युक्त यह परंपरा आगे बढ नहीं पायी ।

सातवें दशक के उपन्यास में जिस परिवेश और मनस्थितियों का चित्रण है वह आठवें दशक से अलग है । ये अन्तर परिवेश और व्यक्ति की याने पीढियों की मानसिकता का है । यहां वस्तु सातवें दशक के उपन्यास

---

1. सरबजीत - हिन्दी कहानी आठवें दशक - पृ. 19

की रचनागत प्रवृत्तियों और संवेदना को आठवें दशक से अलगाती है ।

आठवें दशक की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन आया, इसी परिवेशगत हलचल का प्रभाव रचनात्मक धरातल पर भी पडा । इन्हीं हलचलों और तेज़ बदलावों के बीच आठवें दशक के उपन्यास का परिदृश्य निर्मित हुआ है । इस दशक में प्रवेश करते करते हिन्दी उपन्यास की मूल प्रवृत्ति एवं संवेदना पूर्वदशक के उपन्यास से अलग पड जाती है । इस दशक के उपन्यास को पूर्वदशक के उपन्यास से भिन्नता बाहरी ही नहीं बल्कि भीतरी स्तर पर उपन्यास की संवेदना, यथार्थ चेतना दृष्टि तथा वैचारिक स्तर पर आये परिवर्तनों का भी सूचक है । आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास में समकालीन परिस्थितियों, सवालों एवं समस्याओं के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाते हुए जागरूक, सजग एवं संवेदनात्मक औपन्यासिक चेतना का विकास हुआ है ।

युगीन जीवन की प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न नवीन प्रवृत्तियों का विकास आठवें दशक में हुआ है । इनमें से प्रमुख है सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त शोषण एवं भ्रष्टाचार के प्रति व्यंग्य की प्रवृत्ति, अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध विद्रोह एवं क्रांति की भावना, पारिवारिक संबंध विघटन का चित्र आधुनिक जीवन की जडता और उससे उत्पन्न विडम्बनाओं का चित्र, विषम परिस्थितियों से उत्पन्न प्रतिक्रियाओं की प्रवृत्तियाँ और इन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए नये शिल्पगत प्रयोग आदि ।

जब सामाजिक जीवन में प्रगति की आशा टूट जाती है और पूरा समाज निराशा से आच्छादित होकर ठहरा हुआ प्रतीत होता है, तब इस कालखण्ड के लेखन का आक्रामक हो जाना स्वाभाविक है । "निश्चय ही आठवें दशक का लेखन अधिक आक्रामक सामाजिक जीवन की विसंगतियों के कारण आक्रोश से भरा हुआ तथा युवा पीढी की जुझारू मानसिकता और मानसिकता को तोडनेवाली सत्ता के विभिन्न चेहरों की पहचान में सजग और सतर्क है । इसका आक्रामक और गुस्से से भरा हुआ होना स्वाभाविक भी है ।"[1]

आठवें दशक के उपन्यास में तत्कालीन परिवेशगत बदलावों को सूक्ष्म ढंग से प्रस्तुत किया गया है । राजनीतिक सामाजिक भ्रष्टाचार को बडे सजग एवं सजीव ढंग से उघाडते हुए इस दशक के उपन्यासों ने आम आदमी, जनसामान्य मजदूर तथा किसान की समस्याओं और संघर्षों को चित्रित किया है । और शोषण तन्त्र के खिलाफ उसकी सचेतना तथा संघर्षशीलता को मार्मिक स्वर दिया है और इसके साथ साथ सामाजिक बदलाव की जन आकांक्षा को भी उभारा है । निम्न मध्यवर्ग के आम आदमी तथा जनसामान्य के संघर्षशील जीवन का रूप प्रस्तुत करना तथा उसको रचनात्मक आयाम प्रदान करना आठवें दशक के उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्ति है । "पूर्ववर्ती दशकों के लेखन ने स्त्री की भावसत्ता की अवहेलना करके उसके चरित्र को नैतिक परीक्षा के लिए खुला छोड दिया, वहाँ इस दशक के उपन्यास लेखकों ने इसकी भावसत्ता और सामाजिक वास्तविकता को साथ साथ प्रस्तुत किया है ।"[2]

---

1. डा. रामविनोदसिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 2
2. सं. डा. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष (आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - डा. रामविनोदसिंह)- पृ. 150

आठवें दशक के उपन्यास की प्रमुख प्रवृत्तियों में संघर्ष चेतना को शामिल किया जा सकता है । वास्तव में यह समकालीन परिवेश के खिलाफ एक जैसी साहित्यिक चेतना तथा प्रतिक्रिया को व्यक्त करती है जो इस काल के उपन्यास की सार्थकता है ।

आठवें दशक में आम आदमी की टूटन संत्रास, घुटन और अलगाव को जो अभिव्यक्ति मिली है, वह टूटन वैयक्तिक न होकर सामाजिक है । परिवेश में व्याप्त बिखराव, विसंगतियाँ, विद्रूपतायें पूरे सामाजिक वैयक्तिक जीवन की टूटन और तनाव का मूल कारण है । उपन्यास में जहाँ व्यक्ति और समाज के विखण्डित होते मानवीय मूल्यों को परिभाषित किया गया है, वहीं इस दशक के उपन्यास में जीवन के प्रति एक रचनात्मक संकेत भी दिया गया है ।

आठवें दशक के उपन्यास जनसामान्य के हर पक्ष, उसके दुःख दर्द छटपटाहट, विवशताओं तथा एहसासों का विस्तृत लेखा जोखा प्रस्तुत करता है जो एक सीमा तक यथार्थपरक और प्रामाणिक है ।

साहित्यकार की ईमानदारी समाज के प्रति प्रतिबद्धता तथा संबद्धता आदि को इस दशक के अधिकांश उपन्यासकारों ने मात्र नारा न मानकर एक मूल्य के रूप में स्वीकार किया है तथा साहित्य में समाज के

दलित वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता जाहिर करते हुए, खुले रूप में आम व्यक्ति के रूबरू होकर उसके दु:ख दर्द को अपनी रचना में संजोया है ।

आठवें दशक के उपन्यासकारों ने पूँजीपति वर्ग तथा भ्रष्ट व्यवस्था के खिलाफ तीव्र आक्रोश, आक्रोश ही नहीं विद्रोह प्रस्तुत किया है ।

स्पष्ट है कि इस दशक के उपन्यास में न केवल वास्तविकता के नये संदर्भ लक्षित हुए बल्कि यथार्थ के भी नये धरातलों का अन्वेषण हुआ तथा रचनाकार के रूख में जो परिवर्तन आया जिससे उपन्यास को निश्चित दिशा एवं दृष्टि मिली । इन सबके कारण उपन्यास की रचनात्मक शक्ति अथवा ताकत इस दशक में सही दिशा की ओर विकसित होती हुई प्रतीत होती है ।

आठवें दशक के उपन्यास वर्तमान सामाजिक स्थितियों - परिस्थितियों का मात्र यथार्थपरक एवं प्रामाणिक चित्र ही प्रस्तुत नहीं करते बल्कि सामाजिक अन्याय अनैतिकता और भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए इन कठिन परिस्थितियों तथा जहरीले परिवेश के बीच छटपटा रहे सामान्य व्यक्ति की जिजीविषा को सम्बल प्रदान करता है तथा उसे इन प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करने के लिए तैयार भी करता है । इस दशक के रचनाकार की विशिष्टता इसमें है कि उसने घोर शोषण, अनास्था, तनाव के बीच जी रहे जनसामान्य को परिवेशजन्य निराशामूलक स्थितियों से उभार कर मानवीय ओज एवं आस्था के साथ प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार इस दशक के उपन्यास मानवीय मूल्यों को प्रश्रय देने के साथ साथ इन मूल्यों की स्थापना के लिए एक जागरूक दृष्टि भी प्रदान करते हैं । इस दशक के उपन्यासकारों ने अपनी सामाजिक सांस्कृतिक जिम्मेदारी को समझते हुए जन जीवन के विविध एवं यथार्थपरक चित्रों का अंकन करने की कोशिश की ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि आठवें दशक का उपन्यास कथ्य दृष्टि और शैल्पिक प्रयोग की विशिष्टता को अपने अंदर समेटते हुए सातवें दशक के उपन्यासों से भिन्न अस्तित्व को स्वीकारते हैं । एक ही दशक के अन्तराल में समाज में होनेवाले परिवर्तन लेखकीय प्रतिक्रिया को नई दृष्टियों से प्रभावित कर उसे नया मोड देते हैं । काल का यह अन्तराल बहुत छोटा होते हुए भी प्रतिक्रिया जनित सृष्टि में बहुत गहरा अंतर लाता दिखाई पडता है ।

अविश्वसनीय स्थितियों का निरूपण

आठवें दशक के उपन्यास में जहाँ एक ओर प्रतिबद्धात्मक लेखन का स्वरूप उभरता है तो दूसरी ओर शहर की पार्श्व भूमि में जन्म लेनेवाला जीवन और उसकी समस्यायें कथ्यात्मक अविश्वसनीयता से गुज़रते दिखाई पडते हैं । यथार्थ का संपूर्ण निरूपण करने में उपन्यास कई दृष्टियों से पिछड जाता है । खासकर सामाजिक जीवन के पारिवारिक पक्ष से

संबंधित कथायें अविश्वसनीयता के धरातल से गुज़रती है । लक्ष्य प्राप्ति को और समस्या की संकीर्णता को ध्यान में रखते हुए लिखे जानेवाले कुछ उपन्यासों में इस तरह की स्थितियों का निरूपण मिलता है । ये परिस्थितियाँ पाठक को अविश्वसनीयता के घेरे में बंद कर देती है और औपन्यासिक रचना की यथार्थता पर संदिग्धता प्रकट करने के लिए बाध्य कर देती हैं ।

अविश्वसनीय स्थितियों का निरूपण वैयक्तिक संबंधों के धरातल पर रचे जानेवाले उपन्यासों में अधिकतर दिखाई पडता है । बहुचर्चित उपन्यास "आप का बंटी" की कथ्यात्मकता इस अविश्वसनीयता से मुक्त नहीं हुआ । उधर "चित्तकोबरा" की स्थितियाँ सामान्य पाठक के लिए अत्यधिक अविश्वसनीय लगती है । "अन्तराल" उपन्यास में भी अविश्वसनीयता की स्थितियाँ बहुत ही गहरी हो गयी है । परन्तु सामाजिक सत्य को उभारने की दृष्टि से रचित उपन्यासों में इस अविश्वसनीयता कम मात्रा में ही दिखाई पडती है ।

"आप का बंटी" की नायिका शकुन अजय के साथ अपने अतृप्त वैवाहिक जीवन के संबंध में इस प्रकार कहती है - "शुरू के दिनों में ही एक गलत निर्णय ले डालने का एहसास दोनों के मन में बहुत साफ होकर उभर आया था, जिस पर हर दिन और हर घटना ने केवल सान ही चढाई थी । समझौते का प्रयत्न भी दोनों में एक अंडरस्टैंडिंग पैदा करने की इच्छा से नहीं होता था वरन् एक दूसरे को पराजित करके अपने अनुकूल बना लेने की आकांक्षा से । तर्कों और बहसों में दिन बीतते थे और ठंडी लाशों की तरह लेटे-लेटे दूसरे को दुखी,

बेचैन और छटपटाते हुए देखने की आकांक्षा में रातें । भीतर ही भीतर चलनेवाली एक अजीब ही लडाई थी वह भी, जिसमें दम साधकर दोनों ने हर दिन प्रतीक्षा की थी कि कब सामनेवाले की साँस उखड जाती है और वह घुटने टेक देता है, जिससे कि फिर वह बडी उदारता और क्षमाशीलता के साथ उसके सारे गुनाह माफ करके उसे स्वीकार कर ले, उसके संपूर्ण व्यक्तित्व को निरे एक शून्य में बदलकर । और इस स्थिति को लाने के लिए सभी तरह के दांव-पेंच खेले गये थे - कभी कोमलता के, कभी कठोरता के । कभी सब कुछ लुटा देनेवाली उदारता के, तो कभी सब कुछ समेट लेनेवाली कृपणता के । प्रेम के नाटक भी हुए थे और तन-मन को डुबो देनेवाले विभोर क्षणों के अभिनय भी । पता नहीं उन क्षणों में कभी भावुकता, आवेश या उत्तेजना रही भी हो, पर शायद उन दोनों के ही दयालु मनों ने कभी उन्हें उस रूप में ग्रहण ही नहीं किया, दोनों ही एक दूसरे की हर बात, हर व्यवहार, और हर अदा को एक नया दांव समझने को मजबूर थे और इस मजबूरी ने दोनों के बीच की दूरी को इतना बढाया, इतना बढाया कि फिर बंटी भी उस खाई को पाटने के लिए सेतु नहीं बन सका, नहीं बना ।"[1]

पति-पत्नी के संबंधों के बारे में शकुन का उपर्युक्त विश्लेषण बहुत ही अजीब सा लगता है । क्योंकि आद्यन्त यह सूचना मिलती रही है कि दोनों के बीच कोई स्वाभाविक संबंध नहीं बन पाया था । कई दृष्टियों से उन दोनों के बीच में होनेवाला संघर्ष और समझौते का अभिनय एक आत्म प्रपंचना मात्र लगता है । वैसे पति-पत्नी का संबंध प्राथमिक रूप में पुरुष और

---

1. मन्नू भण्डारी - आप का बंटी - पृ. 35-36

स्त्री का संबंध है । जिसमें सेक्स और प्रेम दोनों अपना विशेष महत्व सिद्ध करते हैं । स्वाभाविक ढंग से विचार करने पर सेक्स से संबंधित संबंधों की स्थितियाँ कभी भी अहंग्रस्त मानसिकता में जन्म नहीं ले सकती । एक ओर पति-पत्नी के संबंधों को निभाते समय स्त्री और पुरुष अपने अहं को छोडकर एक दूसरे से घुल-मिल जाते हैं । यही सामाजिक दृष्टि से स्वाभाविक माना जाता है । उपन्यास में शकुन द्वारा प्रस्तुत विवरण साधारण पाठक के लिए अविश्वसनीय लगता है । एक सवाल यह भी है कि यदि पहले से ही शकुन और अजय के बीच में बनती नहीं तो दस साल तक इस संबंध को खींच कर बढाने का क्या उद्देश्य था । इस सवाल का कोई संतोषजनक जवाब नहीं मिलता । इसलिए उपन्यास की मूलभूत संघर्ष की और उससे जन्म लेनेवाली तलाक की बात बहुत ही नाजुक बन जाती है । इतना ही नहीं बच्चे को अपनी नई ज़िन्दगी के लिए बाधा समझकर छोडने को भी वह तैयार होती है - वह कहती है "तेरे पापा तुझे अपने पास बुलाना चाहते है तो मैं भेज दूँगी ।"[1] तब भी अपनी नई ज़िन्दगी को बिगाडना वह नहीं चाहती ।

यहाँ नारी की मातृत्व की भावना संपूर्ण रूप से पराजित होती दिखाई पडती है । क्योंकि कोई भी माँ अपने सुख के खातिर दस वर्षों के दाम्पत्य जीवन को भोगने के बाद बच्चे को छोडकर अपनी वासना की पूर्ति के लिए दूसरे पुरुष के साथ शादी करने से अवश्य हिचकेगी । यहाँ आर्थिक रूप से जब शकुन स्वतन्त्र है तब बेटी को अलग करने की विवशता की भी आवश्यकता नहीं दिखाई पडती । मातृत्व की विशिष्ट भावना की दृष्टि से यह स्थिति भी अविश्वसनीय है ।

---

1. मन्नू भण्डारी - आप का बंटी - पृ. 154

उधर अन्तराल में भी अविश्वसनीय स्थितियों की कमी नहीं है । विधवा होने के कारण और डेढ वर्ष के असंतृप्त वैवाहिक जीवन के कारण अन्तराल की नायिका श्यामा कुमार के प्रति आकर्षित होती है । विधवा होने के बाद भी यौन आवेग शरीर से तिरोहित नही हो जाते । श्यामा अपने युवा शरीर में उठती हुई अनंत भावनाओं को दबाकर एक अधूरी ज़िन्दगी बिताती है । कुमार की एकमात्र छाया में वह थोडा अपनापन महसूस करती है । वह किसी के सामने स्वयं को "उंडेले जाने की छटपटाहट" लिये जीती है । वह कुमार को स्वीकार करने की स्थिति में स्वयं के होने की कल्पना भी करती है । लेकिन एक दिन कुमार श्यामा के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करने की कोशिश करता है तो श्यामा उसके हाथों से मुक्त होकर क्रोध से कहती है - "मेरे साथ कुछ भी नहीं किया तुमने । क्योंकि जो जितना हुआ, उसमें मैं तुम्हारे साथ नहीं था । काटने को बच्चे भी काट लेते है कभी । जानवर भी काट लेते हैं ।"[1] लेकिन बाद में वह कहती है "मैं चल रही हूँ अब । यह मत सोचना कि इस घटना के कारण तुम्हारा तिरस्कार करके या तुम्हारे साथ जितना संबंध था, उसे तोडकर जा रही हूँ । पर इस समय तुम मुझे छोडने चलो, यह मुझे अच्छा नहीं लगेगा । एहसान मानूंगी अगर तुम मुझे यहाँ से अकेली चले जाने दो । हो सकता है फिर भी कभी तुम्हें आने के लिए लिखूँ । पर आओ तो कोई ऐसी वैसी बात सोचकर मत आना ।"[2] क्योंकि श्यामा सोचती है "उपलब्धि का एक क्षण होता है । कब कैसे वह क्षण आयेगा, कहा नहीं जा सकता । उसे लाने की योजना नहीं बनाई जा सकती । एक स्पन्दन के साथ वह क्षण बीत जाता है । परन्तु उपलब्धि उतने तक ही नहीं होती ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 215
2. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 217

उपलब्धि होती है एक निरन्तर बनी रहनेवाली सुरक्षा की भावना के रूप में । परन्तु यह भावना देव से मुझे नहीं मिली । कैसे सोचा जा सकता है कि किसी और से वह मिल पायेगी ?"[1] श्यामा का यह विचार और कुमार के साथ उसका विचित्र व्यवहार बिलकुल अविश्वसनीय लगता है । क्योंकि यौन सुख की प्राप्ति के लिए तड़पनेवाली कोई भी विधवा उपयुक्त अवसर मिल जाने पर इस प्रकार नहीं कर सकती । फिर सुरक्षा और उपलब्धि की बातें ऊपर से लादी हुई लगती है । क्योंकि देव से जो सुरक्षा उसे नहीं मिली वह सुरक्षा दूसरे से मिल सकेगी इस पर उसे विश्वास भी नहीं । जहाँ सुरक्षा से श्यामा का तात्पर्य बिलकुल अस्पष्ट रह जाता है । मृत्यु किसी पत्नी के लिए पति की असुरक्षा है तो इसको प्राकृतिक नियम की दृष्टि से नहीं रोका जा सकता । ऐसी स्थिति में सुरक्षा की बात सोचना श्यामा की समझदारी पर वार करता है । बिदा लेने से पहले कुमार को फिर कभी आने का निमंत्रण देना और ऐसी वैसी बात न करने की चेतावनी देना स्त्री की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के विरुद्ध है । क्योंकि पुरुष एक खिलौना नहीं होता है जिसके साथ सिर्फ बाहरी या सतही खेल खेला जा सकता है । यौवन की अवस्था में स्त्री पुरुष के संबंध शारीरिक हुए बिना नहीं रह सकते । उपन्यासकार ने उपर्युक्त सत्य का निषेध करके अन्तराल में अविश्वसनीय स्थिति को पैदा किया है । आम पाठक के लिए श्यामा और कुमार के संबंध व्यक्ति वैचित्र्य से भले ही लैस लगे परन्तु विश्वसनीयता की दृष्टि से अपूर्ण लगते है ।

पति और प्रेमी के साथ उन्मुक्त शारीरिक संबंध स्थापित करनेवाली चित्तकोबरा की नायिका मनु का सारा व्यवहार पाठकों के लिए

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 101.

अविश्वसनीय लगता है । क्योंकि शरीर भोग की उत्कट लालसा दिखानेवाली मनु तो दो बच्चों की माँ भी है । मनु के विचित्र आचरण का विवरण एक स्थान पर लेखिका इस प्रकार करती है । "मैं ने अपने शरीर को धोना शुरू किया । अनमने भाव से लोटे भर कर बाल्टी से पानी नहीं उलीचा । पानी डालते डालते हाथ रोककर नये खत का मजमून भी नहीं सोचा । मेरा दिमाग पूरी तरह शरीर को धोने में मशगूल रहा । मैं अपने शरीर को उसी मनोयोग और व्यस्तता से साफ कर रही हूँ, जैसे महेश हर रविवार को अगले हफ्ते के इस्तेमाल के लिए अपनी गाड़ी धोता है ।..... हल्की सी गुदगुदी महसूस हुई । मैं धीरे धीरे उन्हें सहलाने लगी ।..... गुदगुदी गहराकर चिनचिनाने लगी । पोरों में बसा दर्द घस-घसकर बाहर बहने लगा..... मेरा मन हो आया, कोई उन्हें हाथों में भींचकर चूम ले..... मेरे हाथ देह के हर हिस्से को साबुन मलकर धोने लगे..... एक भी हिस्सा आक्रमण से बचकर निकल नहीं पायेगा..... मेरा दिमाग चौकीदारी पर तैनात है । वह सख्ती से अपनी ड्यूटी निभायेगा, तब तक जब तक मैं पूरी तरह से शरीर में तब्दील न हो जाऊँ ।"[1]

वह दूसरी जगह पर कहती है "प्यार करना खेल है, कला है, ज़रूरत है, शरीर की माँग है । प्यार होना बेवकूफी है ? मेरा शरीर स्वयं चेतना है, एहसास है । उस नक्काशी को अच्छी तरह पढ सकता है जो उस पर खुदती जा रही है । नक्काशी के फूल तराशने में उसका भी हाथ है । वह उत्तेजना का पुंज है । वे मेरा शरीर वही मैं हूँ ।"[2]

---

1. मृदुला गर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 110-111.
2. मृदुला गर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 112

मनु का और एक कथन है - "मैं एक दिन शराब पीना चाहती हूँ । मैं यह जानना चाहती हूँ कि धुत हो जाने पर मैं ने क्या किया । यह नहीं कि उसके ख्याल में नशा चढ़ने पर आदमी या औरत को क्या करना चाहिए या अमूमन वे क्या करते हैं । मुझे विवरण चाहिए, पूर्वग्रह नहीं ।"[1]

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि मनु कामभावना से अत्यन्त पीडित है । यह पीडा मानसिक रूग्णता की सीमा तक जाती है और अजनबी एहसासों को जन्म देती है । दो बच्चों की माँ होने के बाद भी गुदगुदी समाप्त नहीं हुई । यह अविश्वसनीय लगता है । भोग की लालसा से पीडित शरीर के आवेगों से जन्म लेनेवाली उन्माद की अनुभूति से त्रासित मनु साधारण नारी की लज्जा, देहकांक्षा और यौन आसक्ति की सीमाओं को तोडकर अविश्वसनीय बन जाती है । कभी कभी वारांगना का सा भाव उसमें लक्षित होने लगता है । परिवार में रहते हुए और परिवार के बंधन से जुडते हुए साधारण स्त्री इस तरह का कार्य नहीं कर सकती । इसलिए मनु के व्यवहार अविश्वसनीय लगते है । व्यक्ति वैचित्र्य से और वैयक्तिक स्वतंत्रता से युक्त यह अविश्वसनीयता ही वस्तुतः इस उपन्यास की सब से प्रमुख विशेषता बन जाती है ।

आठवें दशक के उपन्यासों में अविश्वसनीय स्थितियों का उद्घाटन तुलनात्मक रूप में कम हुआ है । क्योंकि वैयक्तिकता के प्रति

---

1. मृदुला गर्ग - चित्तकोबरा - पृ. 56-57

उदासी और भोगे हुए यथार्थ के प्रति अविश्वसनीयता आठवें दशक के उपन्यास की पृष्ठभूमि के रूप में काम करती रही है । आत्मनिर्वासन, वैयक्तिक अनुभव की विशिष्टता आदि को नकारते हुए आठवें दशक के उपन्यास में सामाजिक सत्यों का अन्वेषण समसामयिक स्थिति के संदर्भ में किया था । फिर भी ऊपर चर्चित उपन्यासों में कथ्य की विशिष्ट संयोजना के कारण अविश्वसनीय स्थितियों का जाने अनजाने में विधान हो गया । जो कहीं कहीं पूरी तरह से अखरते हुए दिखाई पड़ती है । आम व्यक्ति की मानसिकता की दृष्टि से यह अस्वाभाविकता या अविश्वसनीयता रेखांकित होती है ।

नई दिशा का अन्वेषण

आठवें दशक के उपन्यास सातवें दशक के उपन्यास से कई दृष्टियों से भिन्न है । क्योंकि दायित्वपूर्ण अन्वेषण की स्थितियाँ उपन्यास में यत्र तत्र दिखाई पड़ती है । सातवें दशक का उपन्यास जहाँ अवास्तविकता के बीच तलाश का काम ज़ारी रखता है तो आठवें दशक का उपन्यास वास्तविकता के बीच अन्वेषण का बीड़ा उठाता है । सहजता और वास्तविकता से युक्त जीवन की स्थितियों के बीच से मानवीय संकट की व्याख्या करता हुआ प्रतिबद्धात्मक दृष्टि से समस्याओं को स्वीकारने का परोक्ष संदेश देता हुआ उपन्यास आगे बढ़ता है ।

आलोच्य उपन्यासों में सामाजिक प्रतिबद्धता को राजनीति, जातिवाद आतंक, महानगर के जीवन की घृणित स्थितियाँ, परिवार विघटन

की समस्यायें, पति-पत्नी के संबंधों की बारीकियाँ आदि के बीच गुज़ारते हुए नई दिशाओं की तलाश करना एक महत्वपूर्ण मुद्दा है । लेखक मज़दूरों की समस्या को इसलिए उठाता है कि संघर्ष की संकीर्णता अत्यधिक खतरनाक हो गयी है । मज़दूरों की जान की क़ुरबानी साजिशों की जटिलतायें, धन और सत्ता के बल पर मज़दूरों की हत्यायें आदि सोचनेवाले मनुष्य के लिए चौंका देनेवाले तथ्य है । इनके बीच से होकर अपनी प्रतिक्रिया को जाहिर करने के लिए नयी पीढी का आह्वान करना इन लेखकों का लक्ष्य है । प्रतिक्रिया का आह्वान उपन्यासों को नये आयामों से जोडता है और उसे जीवन का सहचर बना देता है । यह सहचारिता नई पीढी की क्रान्ति के स्वर को बुलन्द करनेवाली है । यद्यपि उपन्यासकार इस तरह की क्रान्ति की संभावनाओं के प्रति भी पीढी को जागरूक कर देता है । उपन्यास के जीवन की सक्रियता से जुडने का प्रमाण उपर्युक्त उपन्यासों में परिलक्षित होता है ।

जातिगत विश्वासों की अर्थहीनता पर और मानव की मूलभूत संवेदनाओं की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए मानव को मानव ही रहने देने की बात फिर एक बार दुहराकर उपन्यास ब्राह्मणी और मेहतरानी के दोनों रूपों की विडम्बना का स्वरूप उभारता है । यहाँ समस्या व्यक्ति के आन्तरिक रूप का नहीं बाहरी आवरण का है । इसलिए आवरण मुक्त होकर आदमी को अपनी ज़िन्दगी जीने का अधिकार उपन्यास सुरक्षित रखना चाहता है । सार्थक ज़िन्दगी जीने के लिए नई पीढी को जिम्मेदार बनाने में यह भी एक महत्वपूर्ण कदम है ।

उधर राजनीतिक धाँधली से समाज को सावधान करने के प्रयास में आठवें दशक के उपन्यास नई दिशा के अन्वेषण को सार्थक बना देता है । राजनीति एक धन्धा है और धन्धा करनेवाला जातिवाद और सांप्रदायिकता के धन्धे को साथ लेकर चलते है । ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को उसमें गिराता है । गिराने के बाद उनको आग में जलाना और उसके नाम पर नये षड्यंत्रों को रचकर सत्ता पर बने रखना राजनीति का खेल है । इस चाल से बचने के उपायों के बारे में चेतावनी देना दायित्वपूर्ण लेखन की एक और नई दिशा है । समाज को विषाक्त करनेवाली राजनीतिक मूल्यच्युति का स्वरूप प्रस्तुत कर प्रतिबद्धात्मक लेखन के स्वर को राजनैतिक क्षेत्र के बीच से उभारना नई दिशा की खोज का प्रमाण है ।

साथ ही स्त्री पुरुष संबंधों को बेनकाब करके अहं और मानसिक तनावों के परिणामों को दिखाकर कई समस्याओं को उजागर करने का प्रयास आठवें दशक के उपन्यास की तलाश का एक और परिणाम है । पति-पत्नी के संबंध, शहर की ज़िन्दगी के विशिष्ट स्थितियों के बीच रूपायित करके आपसी तनाव के अवांछित परिणामों को दिखाकर नई पीढ़ी के लिए विकल्पों को सावधानी से चुनने का सन्देश लेखिकायें देती रही हैं । नारी की वासनाग्रस्त प्रतिशोधात्मक प्रतिक्रियायें पुरुष की निष्क्रियता, पार्टनर के प्रति आकर्षण हीनता आदि के परिणाम कितने घातक सिद्ध हो सकते है । इसी की भी छानबीन आठवें दशक का उपन्यास करता है ।

महानगरों की अभिशप्तता को गरीबी, बेरोज़गारी और वेश्यावृत्ति के संगीन गलियों से गुज़ारकर जीवन के विकृत चेहरे को दिखाने का

प्रयास चौंका देनेवाला है । आज़ादी के बाद दुनिया स्वर्ग समान बन गयी है, समाजवाद की स्थापना हो गयी है, सब कहीं सुख और शान्ति है आदि बातों का नारा लगानेवालों के लिए मुरदाघर की ज़िन्दगी हमारी व्यवस्था पर एक प्रहार है । इस प्रहार की शक्ति को लेकर आठवें दशक का उपन्यास हमारे सामने खडा होता है ।

संक्षेप में आठवें दशक का उपन्यास नई दिशाओं की खोज करने में सातवें दशक के उपन्यास से कई मायनों में आगे हैं । कल्पित स्थितियों के प्रति उदासीन दिखाता हुआ यथार्थ की भूमिका को सही मायनों में प्रस्तुत करता हुआ दायित्वपूर्ण लेखन की स्थितियों को अपने अंदर संजोता हुआ आठवें दशक का उपन्यास नये परिवेश में जीनेवाले नये व्यक्ति के अत्यन्त निकट है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से आठवें दशक की रचना धर्मिता के प्रति हमारी आस्था अधिक जागरूक हो जाती है । क्योंकि प्रतिबद्धात्मक लेखन के प्रति दायित्वपूर्ण दृष्टि को अपनाने का प्रयास इस कालखण्ड के उपन्यास में मिलता है । वह इसलिए भी सार्थक है कि सातवें दशक का उपन्यास अवास्तविकता के बीच भटकता रहा था । इस बिखराव और ठहराव से उत्पन्न निष्क्रियता को आठवें दशक के उपन्यासकारों ने भली भाँति समझने की कोशिश की है । सातवें दशक की रचना को सामान्य जनता के जीवन से दूर जाते देखकर आठवें दशक के लेखकों ने अपने को अधिक सचेत कर दिया है ।

इसके परिणामस्वरूप जन्म लेनेवाले सार्थक बोध ने रचना को अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयास किया है । यद्यपि कहीं अविश्वसनीय स्थितियाँ उभरती है फिर भी उन्हें कलात्मक प्रयास के स्तर पर थोडी बहुत मुजूरी दी जा सकती है । क्योंकि मूलभूत रूप में विद्यमान सत्य इन अविश्वसनीय स्थितियों की गहराई में मिलता है । दूसरे शब्दों में जहाँ भी अविश्वसनीयता है वहाँ सत्य का कोई न कोई पक्ष गहराई में विद्यमान रखता है । सिर्फ आविष्करण के स्तर पर ही यह अविश्वसनीयता अखरती है । वस्तुतः आठवें दशक का उपन्यास सार्थक अन्वेषण बोध का और जन जीवन की वास्तविक स्थितियों के अन्वेषण का प्रमाण लेकर उपस्थित होता है ।

पाँचवाँ अध्याय

संघर्ष एवं समन्वय उपन्यासों में

पाँचवाँ अध्याय

संघर्ष एवं समन्वय उपन्यासों में

मूल्य

मूल्य शब्द अंग्रेज़ी के वैल्यू का पर्याय है । इसका सीधा संबंध मानव जीवन से है । "मूल्य समाज की वह आधार शिला है जिस पर सभ्यता और संस्कृति का भव्य प्रासाद निर्मित होता है । समाज के निर्माण में मूल्यों ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है ।"[1] "मानव जीवन के संदर्भ में "मूल्य" मनुष्य की वह सांस्कृतिक पूंजी है जिसके आधार पर समाज विशेष का स्तर जाना जाता है । वास्तव में मूल्य समाज के जीवन में, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक पृष्ठभूमि लिये एक वैचारिक इकाई जिसका विकास व्यक्ति से समाज की ओर होता है, जिसके आधार पर हम औचित्य अनौचित्य का निर्णय करते हैं और जिसका अनुसरण करते हुए समाज का जीवन व्यवस्थित रूप से चलता है और हम सुख का अनुभव करते हैं ।"[2]

व्यक्ति के जीवन को समाज के अनुकूल या सामाजिक सीमारेखाओं के अन्तर्गत बनाये रखने के लिए स्वीकृत मान्यताओं को हम मूल्य मान सकते हैं । इसलिए व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य बात बन जाती है कि समाज में जीने के लिए मूल्यों को महत्वपूर्ण स्थान दे । याने व्यक्ति समाज और मूल्य तीनों अन्योन्याश्रित है ।

---

1. हेमेन्द्रकुमार पानेरी - स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण - पृ. 2
2. डा. लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 3।

चिर गतिशील और विकासशील मानव जीवन में मानव के दृष्टिकोण में और उसके अनुसार समाज हित में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है । "सामाजिक मूल्य न तो शाश्वत होते हैं और न ही निरपेक्ष । सामाजिक मूल्यों में बराबर परिवर्तन होता रहता है । यह परिवर्तन देश, काल, वातावरण आर्थिक स्थिति आदि के आधार पर होते हैं ।"[1] स्थितियों में परिवर्तन होने पर मान्यतायें बदल जाती है । मान्यताओं के बदलने पर उस पर आधारित मूल्य अर्थ खो बैठते हैं । नयी स्थितियों के अनुसार नये मूल्यों का विकास होता है । इसलिए पुराने मूल्य अप्रांसगिक या अस्वीकार्य बन जाते हैं और नये मूल्यों का आविर्भाव होने लगता है ।

परंपरागत मूल्य और नये मूल्यों का संघर्ष

समय की गति के साथ सामाजिक आर्थिक एवं रातनैतिक क्षेत्र में होनेवाले परिवर्तन स्वीकृत धारणा एवं मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगा देते है और नयी मान्यतायें स्वयं उभरने लगती है । इस तरह नयी मान्यतायें स्वीकृत होकर मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा पाती है । लेकिन परिवर्तन की यह प्रक्रिया झट से नहीं होती कि पुराने मूल्य एकदम नष्ट हो पायें । इसका मुख्य कारण यह है कि परंपरागत मूल्यों की जडें जनमानस में इतनी गहरी होती है कि उसे लोग एकदम उखाडकर फेंक नहीं पाते । इसका एक और कारण यह है कि पुरानी पीढी उतनी शिक्षित नहीं है और रूढ़िगत

---

1. डा. हरदयाल - साहित्य और सामाजिक मूल्य - पृ. 18

मूल्यों से उनकी आस्था उतनी जल्दी हिलनेवाली नहीं है । जबकि शिक्षित नई पीढी परिवर्तनों को आसानी से अपना पाती है और स्थितियों के अनुसार अपने को बदल लेती है । फलस्वरूप ऐसी स्थिति हो जाती है कि पुराने मूल्य पूरी तरह से तिरस्कृत नहीं होते और नये मूल्य पूरी तरह स्वीकृत भी नहीं होते । मूल्यों में आनेवाले ये परिवर्तन उतनी तेज़ी से स्वीकार्य हो जाते हैं जितनी तेज़ी से राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थ उनको बढावा देते है । इस प्रकार मूल्यच्युति, "च्युति" न होकर परिवर्तित मूल्य का नया नाम लेती है और नयी पीढी के लिए स्वीकार्य हो जाती है । इस परिवर्तन के बीच एक ऐसा अन्तराल होता है, जब पूर्वमूल्य संपूर्णतया न तो नकारे जाते हैं और च्युत मूल्य पूर्णतया प्रतिष्ठित ही हो पाते हैं । इस स्थिति को मूल्यसंक्रमण की स्थिति भी कहा जा सकता है ।

परन्तु मूल्यच्युति परंपरागत दृष्टि से च्युति होने पर भी नई दृष्टि से एक उभरती हुई मान्यता है । इस कारण संक्रमणकालीन समाज में उभरनेवाली नयी मान्यतायें "मूल्यच्युति" न होकर नये मूल्य बन जाती हैं । स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त इस देश में अनेक नये मूल्यों का विकास हुआ है जो च्युति को विधिवत् स्वीकार लेते हैं और जनजीवन के अस्तित्व के लिए इनको अनिवार्य समझने लगते हैं । थोडा सा झूठ बोलना, थोडी सी बेइमानी करना, आवश्यकता पडने पर घूस लेना और देना, काम चलाने के लिए किसी भी प्रकार के समझौते करना आदि कुछ ऐसी मान्यतायें हैं जो नये मूल्यों के स्तर पर उभर आयी है ।

मूल्य की पुर्नव्याख्या और मूल्यच्युति

संस्कृति और परंपराओं द्वारा अनुमोदित अवधारणायें ही सामाजिक मूल्यों का स्वरूप धारण करती है । समय के साथ बदलनेवाली सामाजिक मान्यतायें कभी कभी इन अवधारणाओं की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगाती है । ऐसी स्थिति में पूर्व स्वीकृत सामाजिक अवधारणायें परिवर्तन के लिए बाध्य होने लगती है । इस प्रकार परिवर्तन के लिए स्वयमेव बाध्य की जानेवाली संकल्पनाएँ नई धारणाओं को जन्म देती हैं जो बाद में चलकर मूल्य का रूप ग्रहण करती है । पुरानी मान्यताओं के स्थान पर प्रतिष्ठित होनेवाली ये मान्यतायें "नये मूल्य" का रूप धारण कर लेती है । मूल्यच्युति या मूल्य परिवर्तन में आर्थिक, राजनैतिक एवं नैतिक तथ्य सकारात्मक भूमिका अदा करते हैं । इसलिए समाज में होनेवाले मूलभूत परिवर्तनों से ये मान्यतायें या मूल्य जुडने लगते हैं ।

मूल्यों की अर्थवत्ता जनहित के पक्ष में होते हुए समय सापेक्ष होती है । मूल्यों की जब अवमानना होती है तो इसे दो दृष्टियों से देखा जा सकता है । पहली दृष्टि पुराने मूल्यों की प्रासंगिकता को नष्ट करती हुई उसे मूल्य परिवर्तन का नाम देती है तो दूसरी दृष्टि उसे मूल्य विघटन या मूल्यच्युति कहना अधिक समीचीन मानती है ।

1. विवाह की नई संकल्पना और स्त्री पुरुष संबंधों की नयी व्याख्या

भारतीय परंपरा के अनुसार वैवाहिक जीवन के मूल्य बहुत ही सुदृढ़ माने जाते हैं । जिनमें एक दूसरे के प्रति संपूर्ण समर्पण का बोध होता है । आपका बंटी, अन्तराल चित्तकोबरा आदि उपन्यासों में इस मूल्य को धक्का देकर गिराया गया है । पति के होते हुए भी मनु का रिचर्ड के साथ शारीरिक संबंध, पति के होते हुए भी शकुन का डा. जोशी के साथ विवाह, अन्तराल की सीमा के अनेक पुरुषों से संबंध जोडना आदि यह सिद्ध करते हैं कि स्त्री पुरुष संबंध पुर्नव्याख्या के लिए बाध्य हो गए हैं । आजकल के आम समाज में ऐसे लाखों उदाहरण मिलेंगे जहाँ पति और पत्नी के बीच एक तीसरा या तीसरी दिखाई पडते हैं । जानते हुए भी समाज इस सत्य को अनदेखा कर देता है जो परोक्ष रूप में मूल्य परिवर्तन को स्वीकारने का उपक्रम है ।

इस प्रकार अन्तराल की सीमा का विवाह की प्रक्रिया को नकारना उस स्थितिबोध की ओर सूचना देता है जहाँ शादी किये बिना स्त्री और पुरुष रह सकते हैं । महानगरों में ऐसी स्थितियों के काफी उदाहरण मिल जाते हैं । विवाह की पवित्रता और उसकी परंपरावादिता पर प्रश्न चिह्न लगानेवाली ये स्थितियाँ परिवर्तन को स्वीकार करने के मौन संकेत है ।

वैवाहिक मूल्य में आये हुए परिवर्तन की सशक्त अवधारणा है चित्तकोबरा उपन्यास की नायिका मनु बेझिझक पति और प्रेमी दोनों के

साथ शारीरिक सुख का उपभोग करना चाहती है । और इसमें वह कोई गलती नहीं मानती । अन्तराल की नायिका श्यामा प्रेमी कुमार के साथ अनाम संबंधों की स्थापना से नवीन मूल्यों का समर्थन करती है । अपने संबंध को स्पष्ट करती हुई वह कहती है - "किसी से बात कर सकना भी अपने में एक संबंध है, इसे चाहे जो नाम दिया जाय । और कई संबंधों से वह कहीं गहरा संबंध है, कम से कम मेरे लिए । लेकिन यह संबंध स्त्री और पुरुष के निर्माण भेद का संबंध नहीं है ।"[1] उसे एक पुरुष के सहयोग की आवश्यकता अनुभव होती है, पर वह अपने संबंध को वासनात्मक स्तर से संबद्ध नहीं करना चाहती । वस्तुतः पति और मित्र के द्वन्द्व के बीच एक साथ जीते हुए अपने अकेलेपन को तोडने का प्रयत्न करती हुई श्यामा व्यक्ति स्तर पर नये मूल्यों की शोध में सक्रिय है ।

अन्तराल की सीमा और चित्तकोबरा की मनु दोनों स्वातन्त्र्य जीवन की पक्षधर हैं और दोनों अपने ढंग से जीना चाहती है । वे दोनों स्त्री पुरुष संबंधों को परिवर्तित दृष्टि से स्वातन्त्र्य के धरातल पर स्वीकार कर व्यक्ति मूल्यों को महत्व देती है ।

उपर्युक्त उदाहरण यह सूचित करते हैं कि प्राचीन काल से आनेवाली विवाह की प्रथा ऐतिहासिक रूढ़ि एवं प्राकृत रीति रिवाज़ मात्र है । और यह विवाह की तथाकथित पवित्रता और वैधता को चुनौती देती हुई दिखाई पडती है ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 76

उक्त स्थितियों के आधार पर निम्नलिखित प्रश्न खड़े होते हैं । (1) क्या विवाह व्यक्तियों के अधिकारों का समाज के द्वारा निषेध है ? (2) समाज द्वारा निर्धारित नियमों का व्यक्तियों के द्वारा निषेध है ? (3) विवाह की पवित्रता को बनाये रखने के लिए समाज क्या कर सकता है ? (4) ऐसी स्थिति में विवाह नामक प्रथा की ज़रूरत है या नहीं ?

2. सेक्स और उससे संबंधित विकृतियाँ

जीवन में सेक्स वह मूलभूत चेतना है जो स्त्री को पुरुष की ओर और पुरुष को स्त्री की ओर आकर्षित करती है और उसकी तृप्ति से संबंधों का सन्तोषजनक समीकरण होता है । इसलिए सेक्स के संबंधों के अभाव में लगाव खतम होता है और पति-पत्नी कभी कभी अजनबी बन जाते हैं ।

सेक्स के संबंध में यह कहा जा सकता है कि सीमाबद्ध रूप में स्त्री पुरुष के शारीरिक संबंध स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है क्योंकि इसके अभाव में मानसिक असन्तुलन और कार्य व्यापारों की एकांगिता बनी रहती है । लेकिन जब स्त्री पुरुषों के शारीरिक संबंध सीमा को तोडकर उच्छृंखल होने लगते हैं वहाँ नैतिक बन्धनों के टूटने के साथ विकृतियाँ जन्म लेती हैं जो जीवन के सही स्वास्थ्य के लिए खतरनाक साबित होती है । सेक्स जनित मानसिक विकृतियाँ मनुष्य को घिनौने कार्य करने के लिए प्रेरित करती है । और पशुवत् जीवन बिताने के लिए ऐसी स्थिति में कभी कभी वह बाध्य हो जाता है ।

सेक्स के सीमारहित आविष्करण मुरदाघर और चित्तकोबरा में है । चित्तकोबरा के बारे में डा. रामविनोद सिंह का कथन है - "सेक्स अपने घिनौने रूप में घृणा उत्पन्न करता है तथा वह अपने संयमित रूप में अधिक यथार्थ और तर्कसंगत लगता है । इस उपन्यास का सेक्स वर्णन उन्माद और विकृत मनोवृत्ति से पीडित हो गया है ।"[1]

मुरदाघर की औरतें अपने शरीर को कुत्तों सुअरियों की तरह बेचती है । शरीर जब तक बिक सकता है, तब तक बेचते जाना जैसे उनकी मज़बूरी है । नैतिकता को नकारते हुए वे नारियाँ परिस्थितिजनित विवशता के कारण वेश्यावृत्ति करती है । और कभी भी उनको न संतृप्ति प्राप्त होती है न संतोष भी ।

आठवें दशक के उपन्यासों में दायित्व बोध की अधिकता के होने के कारण वैयक्तिक धरातलों पर होनेवाले अनुभवों को कम महत्व दिया गया है । आत्मनिर्वासन, कुण्ठाग्रस्त मनोवृत्तियाँ और अनुभवों का अजनबीपन आदि से मुक्त होने पर भी सेक्स से संबंधित विशिष्ट स्थितियाँ चित्तकोबरा, मुरदाघर नाच्यौ बहुत गोपाल आदि में उभर आयी है । इन तीनों उपन्यासों की सेक्स संबंधी अवधारणायें भिन्न स्तरों से जुडती है । नाच्यौ बहुत गोपाल की निर्गुणिया की प्यास बूढे व्यक्ति से विवाह किये जाने पर होनेवाली शारीरिक पिपासा है तो, मुरदाघर की वेश्याओं की

---

1. डा. रामविनोद सिंह - आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - पृ. 150

सेक्स संबंधी विकृतियाँ पेट की भूख को मिटाने के लिए किये जानेवाले "पेशे" का परिणाम है । असली सेक्स संबंधी विकृति चित्तकोबरा में मिलती है । जहाँ उन्माद की पराकाष्टा पर पहुँची हुई एक नारी की माँसलता से जुडी हुई प्रतिक्रिया प्रकट हुई है । अश्लील से लगनेवाले यह वर्णन सेक्स की विकृत चेष्टाओं से युक्त दिखाई पडता है । इस तरह चर्चित उपन्यासों में सेक्स की विकृतियों का चित्रण सीमित पैमाने पर मिलता है ।

3. राजनीति - धाँधली का दूसरा रूप

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राजनैतिक मूल्यों की महत्ता कम होती गयी । राजनैतिक नेता सत्ता की आड़ में सब प्रकार के अत्याचारों अनीतियों एवं दुष्कर्मों को अपनाते हुए भी समाज के सामने अपने को पुण्यात्मा साबित करते रहे । आज राजनीति में सब प्रकार के शोषण और भ्रष्टाचार व्याप्त हैं । स्वातन्त्र्योत्तर भारत में एक ऐसे नेतावर्ग का आविर्भाव होता है, जो किसी न किसी महान पुरुष के आत्मोत्सर्ग की आड़ में अपने को नेता घोषित करता हुआ जनशोषण में लगा रहता है ।

दाव पेंच, धाँधली, भ्रष्टाचार, दलबाजी, गुण्डागर्दी आदि राजनैतिक क्षेत्र में अपने को बनाये रखने के लिए आवश्यक साधन बन गये । बाहर की हँसी अंदर की कालिमा को छिपा देती है और होनहार लोग नेता के असली स्वरूप से वंचित रह जाते हैं । महाभोज में दा साहब और सुकुलबाबू का चरित्र इसका ज्वलंत उदाहरण हैं । त्याग, बलिदान, देशसेवा,

जनहित, आदि के ऊँचे सिद्धांतों को शब्दों से दुहरानेवाले ये नेता असल में इन्हीं सिद्धांतों को दफनाकर उनकी श्मशान भूमि पर खड़े होते हैं और अपने को महात्मा साबित करते हैं ।

सत्ता की प्रमुखता राजनैतिक धाँधली को छिपाती है । बिसू की हत्या, बिन्दा की गिरफ्तारी, सक्सेना की मुअत्तली, सिंहा का प्रमोशन, हरिजन टोला की आगजनी आदि उन अनदेखी कहानियों की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करते हैं, जिनका कभी भी पर्दाफाश नहीं होता ।

उधर कटरा बी आर्जू में प्रस्तुत जीवन की स्थितियों से पता चलता है कि आपातकाल की घोषणा भी एक स्वार्थगत कार्य था । वस्तुतः आपातकाल की घोषणा इसलिए की गयी है कि राष्ट्र के जीवन स्वस्थ बनाया जाय और भ्रष्टता को समाप्त किया जाय । यह लोगों की आँखों में धूल झोंकने का एक तन्त्र मात्र था । असली बात इन्दिरा गाँधी के सत्ता में बने रहने की स्थिति को बनाये रखना था । इस कारण आपातकाल की घोषणा उन दिनों तक अच्छे परिणामों को दिखाने के बाद अन्ततोगत्वा पार्टी और पार्टी नेताओं की भ्रष्टता का अन्दरूनी मामला बन गया । देश को बचाने के लिए उचित स्थापित किया जानेवाला यह कदम असल में राजनीतिक धोखेबाजी का एक और चरण था । इस प्रकार राजनैतिक मूल्य शोषण की सर्व स्वीकृत अवधारणा जनसमक्ष धीरे धीरे उभर कर आने लगी ।

५. शोषण एक सर्वमान्य मूल्य

शोषण को एक सर्वमान्य मूल्य के रूप में महाभोज, नाच्यौ बहुत गोपाल, प्रतिबद्ध, समय बीता हुआ आदि उपन्यासों में चित्रित किया गया है । प्रतिबद्ध और समय बीता हुआ में मालिक मज़दूरों का शोषण और नाच्यौ बहुत गोपाल में उच्चवर्ग द्वारा निम्नवर्ग का शोषण है । महाभोज का दा-साहब राजनैतिक शोषण का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है । जीवन की सफलता यदि मूल्य का आधार है तो उनके अनुसार शोषण सब से ज़्यादा कीमती मूल्य है । मुखौटा धारण कर दूसरों की आँखों में धूल-झोंकनेवाला व्यक्ति अर्थ काम और सत्ता की प्राप्ति में सर्वविजयी होता है । उनके जीवन से संबंधित सभी बातें इसके उदाहरण है । अपने संपर्क में आनेवाले सभी व्यक्तियों का शोषण वह करता ही रहता है ।

दा साहब नेता वर्ग का प्रतीक बनकर अपनी सत्ता एवं प्रभुता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए लोगों का शोषण कई प्रकार से करता रहता है और इन बातों को छिपाये रखने में भी वह सफल निकलता है । उसके द्वारा किये जानेवाले सभी भ्रष्टाचार सत्ता के सामने अत्याचार न बनकर परिवर्तित मूल्य या नया मूल्य बन जाते हैं । आम जनता की नज़रों में इस तरह भ्रष्ट मूल्य वैधता से युक्त हो जाते हैं क्योंकि आदर्श नेता के द्वारा किया गया हर कार्य अनुचरों के लिए भी आदर्श बन जाता है । इसी तरह किसी भी प्रकार के सामाजिक विरोध के बिना च्युत मूल्य राजनैतिक क्षेत्र में स्वाभाविक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा पाता है ।

मिल मालिकों के द्वारा किये जानेवाला शोषण मज़दूरों के अधिकारों को नकारकर आगे बढता है । मेहनत करनेवाले लोगों को मज़दूरी न देना, उनके प्रति अमानवीय व्यवहार करना, उनके लहू को चूसकर मुनाफा कमाना और संगठित मज़दूरों के नेताओं को मौत के घाट उतारना आजकल उद्योगपतियों के प्रगति के "तन्त्र" बन गये हैं । इसे हर उद्योगपति, व्यापारी और बडे ज़मीन्दारनुमा किसान, अपनी सफलता का रहस्य मानते हैं और इन तन्त्रों के प्रयोग को सरकार और सत्ता भी मंज़ूरी दे देती है ।

"प्रतिबद्ध", "समय बीता हुआ" आदि उपन्यासों में उद्योग के क्षेत्र में होनेवाले उपर्युक्त नये मूल्यों की जन्म स्थिति का भरपूर विवरण है । निम्न जाति के स्त्रियों पर किये जानेवाले शोषण, उनके शरीर और सेक्स का खुला उपभोग आदि उच्चवर्ग के अधिकारों के अंदर सुरक्षित हो गया है । उच्च जाति का व्यक्ति यदि अमीर होता है तो हरिजन और मेहतर वर्ग की मोहला पर शोषण करने का अधिकार जन्मजात रूप से उसे दिया जाता है । "नाच्यौ बहुत गोपाल" उपन्यास ऐसी शोषण की छोटी छोटी कहानियों का दस्तावेज़ है ।

आधुनिक समाज में शोषण, मूल्यहीनता या मूल्यच्युति न बनकर मूल्य बन जाता है । जिसका उदाहरण है आठवें दशक के उपर्युक्त उपन्यास । स्वातन्त्र्योत्तर काल में समाज में प्रतिष्ठा पाने के लिए दूसरों का शोषण करना परोक्ष रूप में स्वीकारा गया है और यही तथ्य जाने अनजाने में एक मूल्य के रूप में समाज में उभरकर आ रहा है ।

5. मूल्यहीनता का मूल्य

परंपरागत रूप में स्वीकृत मूल्य में आज के भौतिकता प्रधान युग में परिवर्तन हो रहे हैं । प्राचीनता के प्रति विद्रोह और नवीनता का आग्रह बढता जा रहा है । समाज के मूल्य प्रतिमानों में बदलाव आ रहा है । जीवन में वही सफलता प्राप्त करता है जो युगानुकूल अपने आप को बदलने में समर्थ है । इस प्रकार के व्यक्ति परंपरागत रूप से स्वीकृत मूल्यों को अपने अनुकूल परिवर्तित करता है या पुराने मूल्यों को छोडकर नये मूल्यों की स्थापना में लगा रहता है । परिणाम स्वरूप मूल्यहीनता एक सर्वमान्य मूल्य के रूप में उभरती है और प्रतिष्ठित होती है ।

मूल्यहीनता उस व्यक्ति के लिए मूल्यवान बनती है जब वह स्वार्थ सिद्धि की उद्देश्यपूर्ति के लिए किसी भी हद तक गिरने के लिए तैयार रहता है । यानी लक्ष्य प्राप्ति की साधना में पथ और मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं । प्रयोजनमूलक दृष्टिकोण या उपयोगवादिता व्यक्ति सापेक्ष होकर समाज को नकारती है और ऐसी स्थिति में मूल्यहीनता की आड़ में सारे मूल्यों का निषेध करते हुए व्यक्ति आगे बढने की कोशिश करता है । इस अवसर पर किसी भी मूल्य पर विश्वास न करना व्यक्ति स्वार्थ की पूर्ति के लिए वरदान बन जाता है । संभवत: व्यक्ति स्वयं जानता है कि मूल्य का तिरस्कार उसकी महज ज़रूरत है । स्वयं वह पहले अपने अन्तकरण को बेच देता है । ताकि किस प्रकार के अपराध बोध की संभावना न रहे । दा साहब के कारनामे मूल्यहीनता को प्रश्रय देनेवाले व्यक्ति की याद दिलाते हैं ।

मूल्यहीनता के मूल्य पर अडिग रहकर वह धन दौलत यश और सन्तोष की प्राप्ति करता है और सर्वादरणीय बन जाता है ।

आज के नेतावर्ग में बहुसंख्यक लोग दा साहब के वंशज है और उसी वंश परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखने के प्रयास में मूल्यहीनता की साधना में लगे हुए हैं । वैसे यह मूल्यहीनता दण्डनीय तो अवश्य होती है । लेकिन दण्डनीति राजनेता के ऊपर प्रयुक्त नहीं की जा सकती । इस कारण मूल्यहीनता का लाभ उन्हीं व्यक्तियों को होता है जो उच्च पद पर आसीन होते हैं और जो सत्ता और प्रभुता को अपनी ही ऊंगलियों पर नचाते हैं ।

मूल्यहीनता का मूल्य वैयक्तिक नैतिकता का निषेध करनेवाले व्यक्तियों के लिए भी सहायक होता है । चित्तकोबरा की मनु वैयक्तिक नैतिकता का निषेध करती हुई, मूल्य को नकारती हुई, तीसरे व्यक्ति के सामने अपने शरीर को समर्पित कर देती है और स्वयं तृप्त होने लगती है ।

उधर परिस्थिति के दबाव के कारण ही क्यों न हो निर्गुणिया अपने वेश्यावृत्ति को छोडकर मेहतर के साथ भाग खडी होती है । भागने के फैसले को स्वीकारने के पहले पति के साथ बंधे रहने के मूल्य को नकारना निर्गुणिया के लिए आवश्यक है । उसी तरह समय बीता हुआ की निशा विवश होकर ही सही तीसरे व्यक्ति के प्रति जुडने की कोशिश करती है । पूर्वमान्य मूल्य को नकारे हुए ऐसा नहीं किया जा सकता । इसलिए

मूल्यहीनता की स्थितियों से गुज़रे बिना दूसरे छोर पर नहीं पहुँचा जा सकता । विभिन्न सीमा रेखाओं से जुडनेवाली उपर्युक्त कथ्यात्मक स्थितियाँ मूल्यहीनता के मूल्य को सामाजिक और वैयक्तिक स्तर पर स्वीकारती है ।

कुलमिलाकर आठवें दशक के उपन्यास में प्रमुख रूप से न सही परोक्ष रूप में मूल्यों की पुर्नव्याख्या और मूल्यच्युति की विशिष्टता का अंतर मिलता है । सारे चर्चित उपन्यासों में यह दिखाई पडता है कि समसामयिक जीवन का स्वरूप राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांप्रदायिक पार्श्वभूमि से जुडकर परिवर्तन के लिए बाध्य हो गया है । यह परिवर्तन मूल्य संक्रमण और मूल्य निषेध के आधार पर धीरे धीरे अपना अस्तित्व बना रहा है । उपन्यासों की परिस्थितियाँ यह सिद्ध करती है कि अब मूल्य परिवर्तन की अवस्था समूचे समाज के अस्तित्व को प्रभावित करती आगे बढ रही है ।

संघर्ष का स्वरूप समाज में और व्यक्ति में

आज का जीवन सहज सरल न होकर विविध स्तरीय कोणों से होकर गुज़र रहा है । स्त्री और पुरुष दोनों ही घर बाहर की अनेक समस्याओं और विवशताओं को भोग रहे हैं । व्यक्ति अपनी बाह्य व्यवस्था प्रतिकूल परिस्थिति और सामाजिक अव्यवस्था के प्रति संघर्षरत होता ही है, पर इससे भी अधिक संघर्ष उसके अन्तर्मन में चलता रहता है । आठवें दशक के उपन्यासों में इस संघर्ष का चित्रण किस प्रकार हुआ है, यह समझने के लिए प्रत्येक उपन्यास से गुज़रना ज़रूरी है ।

संघर्ष का स्वरूप समाज में

संघर्ष का एक स्वर मनुष्य के जीते रहने के संघर्ष में भी विद्यमान है । जान बचाये रखने के लिए एक वक्त का भोजन भी जुटाना जब कठिन हो जाता है तब आदमी अपने को गंदगी में डुबा देता है और रोटी के टुकडों के लिए कुत्तों से भी जा भिडता है । संघर्ष के घृणित स्वरूप को दिखानेवाला उपन्यास है मुरदाघर जिसमें समाज के द्वारा तिरस्कृत जानवरनुमा, भीखमंगों और वेश्याओं का जीवन संघर्ष उभरकर आता है । उनके लिए एक वक्त का खाना जुटाना ही सब से बडा संघर्ष है । इसके लिए अपने बीमार जिस्म को भी कम से कम कीमत पर स्त्रियाँ बेच डालना चाहती है । परन्तु ग्राहक का मिलना भी एक संघर्ष पूर्ण कार्य है ।

मुरदाघर के पात्रों के छोटे छोटे सपने हैं जो कभी पूरे नहीं होते । किन्तु जिनके लिए वे हमेशा संघर्ष करते रहते हैं । पोपट मैना से कहता है "मेरा ज़िन्दगानी में खाली एकच बात है..... तेरे कू चाली में खोली लेके देना ..... तेरे कू अच्छा लुगडा ला के देना..... तेरे कू इधर से ले जाना ।"[1] पोपट के सारे प्रयत्न विफल हो जाते है और एक अच्छी ज़िन्दगी जीने में वह असफल हो जाता है । परिवार के सम्मानपूर्ण अस्तित्व के लिए वह निरन्तर छटपटाता है । सपना साकार करने की धुन में वह खुद मर जाता है ।

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुरदाघर - पृ. 21

पोपट के समान जब्बार की भी इतनी सी इच्छा पूरी नहीं होती कि उसकी पत्नी वेश्यावृत्ति न करे और उसका पुत्र उसके साथ रहे । "नयी ज़िन्दगी की तरफ ले जानेवाली गाडी लेट हो गयी । अब ? हैं कहीं कोई रास्ता ? नहीं । चारों तरफ़ रास्तों पर खडे हैं । घूर रहे हैं जब्बार को ।"[1] सपनों को संजानेवाला जब्बार पकडा जाता है और पुलिस की हवालात में दम तोड देता है ।

रोज़ी का सपना है - उस आदमी को पा लेना जिसके साथ फोटो निकलवाया था । वह सपना भी अधूरा ही रह जाता है क्योंकि ये सपने सब मुरदाघर में जीनेवालों के सपने हैं ।

सुभद्रा और तारा भी अपने सपनों की पूर्ति के लिए संघर्ष करती रहती है । सुभद्रा अपने प्रेमी को पोस्टकार्ड भेजने के लिए और तारा बाबू भाई को खबर पहुँचाकर हवालात से मुक्ति पाने के लिए भत्तेवाले की मदद माँगती है और इसकी पूर्ति के लिए कठिन प्रयत्न करती है । लेकिन दोनों छटपटाती रह जाती है ।

इस उपन्यास की और एक दर्द भरी तस्वीर है - उन भूखे मासूम बच्चों की, जो होटलों के पीछे जूठे अन्न की तलाश में चक्कर

---

1. जगदम्बा प्रसाद दीक्षित - मुरदाघर - पृ. 173

लगाते हैं । जिन्हें सड़क के आवारा कुत्तों से जूझना पडता है क्योंकि वे कुत्ते उनके हिस्सेदार होते हैं ।

कुल मिलाकर इस उपन्यास में प्रतिबिंबित संघर्ष का स्वर दिन काटने का, एक वक्त की रोटी जुटाने का और उसके लिए विवश होकर नजायज़ काम करने का है । ऐसे जीवन बितानेवालों को क्या हम आदमी कह सकते है ? क्या वे ज़िन्दा है ? क्योंकि कभी ज़िन्दा रहने का एहसास उन्हें नहीं होता । ज़िन्दा रहने के लिए एक वक्त का भी भोजन वे जुटा नहीं पाते । उनका संघर्ष आदमियों से नहीं समाज से भी नहीं है । उन कुत्तों से हैं जो जूठन के लिए उनके हिस्सेदार बनते हैं । उन हवालातों के भत्तेवालों से हैं जो कंकाल वेश्याओं के शरीर के बेचे हुए टुकडों के हिस्सेदार बनते हैं । उन अमानवीय पुलिसवालों से हैं जो हर कंकाल को हवालात के अंदर लाश बना देते हैं । डा. महेन्द्र भटनागर के शब्दों में "निस्सन्देह लेखक ने झोंपड-पट्टियों और फुटपाथों पर ज़िन्दगी तबाह करनेवालों के दुःख दर्द को, उनकी आशाओं-आशंकाओं को, उनके अभावों-ज़रूरतों को उनकी कश म कश को, उनके संघर्ष को बहुत नज़दीक से देखा है । मनुष्य की जिजीविषा "मुरदाघर" का दूसरा नाम है ।"[1]

"प्रतिबद्ध" और "समय बीता हुआ" आठवें दशक के दो ऐसी रचनायें हैं जिनमें वर्ग संघर्ष की कहानी एक नई पृष्ठभूमि में प्रस्तुत

---

1. डा. महेन्द्र भटनागर - हिन्दी कथा साहित्य विविध आयाम - पृ. 173

की गयी है । मिल-मालिकों के शोषण के विरुद्ध संगठित होनेवाली मज़दूर शक्ति अपने अधिकारों के लिए खुल्लम खुल्ला लडाई छोडना चाहती है । यह लडाई वैसे एक सीमित वर्ग का सामाजिक संघर्ष है जो अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्ता से और पूँजीपतियों से टकराना चाहता है । मिल-मालिक हड़ताल करनेवाले मज़दूरों की कमर तोड देना चाहता है । क्योंकि सर्वहारा वर्ग को कुचलकर अपनी प्रभुता को कायम करना पूँजिपतियों का लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति में सरकार और सत्ता उन्हें पूरा सहयोग देती है ।

समाज के दो विभिन्न वर्गों के द्वारा किये जानेवाले इस संघर्ष की कहानी "समय बीता हुआ" में भी मिलती है । आदर्शों से प्रेरित नयी पीढी के युवा लोग जान की कुरबानी देकर भी मज़दूर शक्ति को आगे बढाना चाहते हैं । "समय बीता हुआ" के आनन्द जैसा अफ़सर, साजिश के शिकार बनकर मारे जाते है और प्रतिबद्ध का हरिलाल उस संघर्ष को आगे बढ़ाता हुआ जीवन भर लडना ही अपना लक्ष्य समझता है । प्रस्तुत उपन्यासों की कथ्यात्मकता सामाजिक यथार्थ से अभिप्रेरित है । इसमें चित्रित संघर्ष व्यक्ति और समाज के बीच न होकर समाज के दो वर्गों के बीच होता है । असल में भारतीय सामाजिक असन्तुलन के आधारभूत अर्थ व्यवस्था के विरुद्ध किये जानेवाले संघर्ष के रूप में इन दोनों उपन्यासों की संघर्ष गाथा प्रस्तुत की जा सकती है ।

"नाच्यौ बहुत गोपाल" में अमृतलाल नागर ने मेहतर समुदाय के जीवन यथार्थ का चित्रण करके व्यक्ति के संस्कारों का संघर्ष तथा

काम और प्रेम का संघर्ष प्रस्तुत किया है । उच्च ब्राह्मण संस्कार और परवर्ती भंगी कर्म जैसे विपरीत संस्कारों और कर्मों के बीच उभरा संघर्ष इस उपन्यास की पृष्ठभूमि है जिस पर मेहतर जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित है ।

मार मार कर भंगी बनाने और मन से मेहतर हो जाने पर भी निर्गुणिया के मन में भंगी कर्म के प्रति घृणा की भावना थी । इसलिए वह पत्रकार अंशुधर शर्मा से कहती है "पाखानों का फ्लश सिस्टम लागू कर दें । इन्सान को इन्सान का मैला ढोने का काम से मुक्त करें ।"[1] निर्गुणिया के कहने का तात्पर्य यह है कि भंगी कर्म स्वीकारने और मन से मेहतर बन जाने पर भी उसकी चेतना गन्दगी से एकाकार नहीं कर पाती और वह सदियों से पीड़ित भंगी समुदाय में भी गंदगी के प्रति नफरत की चेतना को जगा देती है ।

काया सुख की आसक्ति और मोहना के प्रति निष्ठा का द्वन्द्व उपन्यास में अनेक स्थलों पर उभरा है । बसन्तू दरोगा से मुलाकात के बाद वह सोचती है - "अब इस मेहतर जून से छुटकारा लूँ भले वेश्या बन जाऊँ ।"[2] मोहना की मृत्यु के बाद मिशनरी डाक्टर एण्डरसन उसे ईसाई बनाकर विवाह करके अमेरिका ले जाना चाहते है । "सचमुच मेरा जी चाहता था कि मैं सती बनूँ और यह भी सच कि काम का अगन ने मेरे कलेजे

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 343-344
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 320

को भट्टी भी बना रखा था ।"[1] भंगी कर्म करते हुए भी उसे अनेक कामी लम्पटों से उलझना पडा, लेकिन निर्गुण की एक निष्ठा उसके व्यक्तित्व को प्रत्येक अनाचार से बचाकर पवित्र करती रही । निर्गुणिया के इस संघर्ष में व्यक्ति और समाज का संघर्ष निहित है ।

उपन्यास में हरिजन आन्दोलन के माध्यम से लेखक ने स्पष्ट किया है कि हरिजन जिस भयंकर संघर्ष के दौर से गुज़र रहे हैं वह अन्य किसी भारतीय जाति के सामने नहीं है । "इन हरिजनों का संघर्ष इस देश के हिन्दुओं से ही नहीं, बल्कि मुसलमानों और ईसाइयों से भी है, हिन्दू-मुसलमान, सिख, ईसाई ऐसी कौन सी भारतीय जाति है जो अपने आप को मेहतरों से ऊँचा नहीं समझती और जो उन्हें छूने से घिनाती नहीं है ?"[2]

निर्गुणिया अंशुधर शर्मा से पूछती है - "अपनी दुनिया के बडे बडे गिरे हुए लोगों की तकदीरें पलट गई, दुनिया के इत्ता इत्ता इन्कलाब ज़िन्दाबाद और आज़ादी के नारे लग गये पर हम मेहतरों को किसी ने आज तक आज़ाद नहीं किया बाबूजी ।"[3] यह इस उपन्यास की मूल संवेदना है । इस प्रकार उपन्यासकार ने मेहतर जीवन की यथार्थ दारुण स्थिति के साथ समाज चेतना के विविध रूप भी चित्रित किये हैं । काम प्रेम और संस्कारों के संघर्षों को चित्रित करनेवाली यह रचना मेहतरों की समस्याओं का वास्तविक दस्तावेज़ है । नायिका के मन का विश्लेषण उसके अन्तर्द्वन्द्व में निहित है ।

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 325
2. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 35
3. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 311

समूचे उपन्यास में संघर्ष की ऐसी परिस्थितियाँ है जहाँ व्यक्ति के अंदर ही व्यक्ति के प्रति संघर्ष होता है और उसका दूसरा पक्ष समाज के प्रति भी संघर्ष लेकर उभरता है । यह संघर्ष एक दलित वर्ग की पीडा का संघर्ष उभरता है जो जन्म से मैला ढोने के लिए अभिशप्त है । परोक्ष रूप में इस संघर्ष की सूचना यह है कि आदमी को आदमी का गुलाम बनाकर गन्दगी से भरे जीवन बिताने के लिए बाध्य करना अमानवीयता है । अगर इसको खतम नहीं किया गया तो संघर्ष की स्थितियाँ विस्फोट का रूप धारण कर सकती है ।

"कटरा बी आर्जू" में जिस संघर्ष का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है वह इमरजेन्सी के प्रति उभरनेवाली प्रतिक्रिया का स्वर मुखरित करता है । इमरजेन्सी के द्वारा आज़ादी पर लगाया गया अंकुश विरोध के काबिल था । समाज का एक वर्ग जिसके प्रतिनिधि बनकर प्रेमानारायण, देशराज और आशाराम आते हैं - वे इस संघर्ष को अपनाकर सब से पहले विरोध का स्वर सुनाते हैं । परन्तु कटरा बी आर्जू की परिस्थितियाँ इस संघर्ष को आगे बढाने के काबिल नहीं बनती । सत्ता और पुलिस के अत्याचार से पीडित प्रेमानारायण, देशराज और आशाराम अमानवीय यातनाओं के शिकार बनकर अपने संघर्ष से विमुख होने के लिए मज़बूर किया जाता है । इस प्रकार इमर्जेन्सी पाशवी बनकर व्यक्ति की आज़ादी को ठुकरा देती है और उसे झुकने के लिए मज़बूर कर दिया । संघर्ष का बाहरी ढाँचा प्रेमानारायण, देशराज, आशाराम और नसबंदी का शिकार मास्टर बद्रुल हसन तक सीमित होते हुए भी उसका आंतरिक पक्ष जनजीवन के संघर्ष के आह्वान से सक्रिय

हो जाता है । शायद इसी सक्रियता ने इमरजेन्सी को खतम करने के लिए सरकार को मज़बूर किया था । संघर्ष से जनित जो आक्रोश और विरोध का तूफान उमडा उसके सामने कुर्सियाँ उखड गयी । सत्ता पलट गयी और इतिहास के पृष्ट बदल गये । कटरा बी आर्जू में चित्रित संघर्ष अपने में संपूर्ण नहीं है । वह संघर्ष का आंशिक पक्ष मात्र उभारता है जिसका परिणाम आगामी पीढी तक फैला हुआ लगता है ।

महाभोज में एक ओर सामाजिक उत्पीडन, अन्याय और शोषण है तो दूसरी ओर व्यवस्था पोषक राजनीति की तिकड़मबाजी है जिनके बीच न्याय पाने के लिए संघर्षरत ईमानदार व्यक्ति पिस जाता है । मन्नू भण्डारी ने ग्रामीण शिक्षित युवा बिसू, बिन्दा, ईमानदार पुलिस अफसर सक्सेना और विधायक त्रिलोचन सिंह के सन्दर्भ में वैयक्तिक संघर्ष और व्यक्ति समाज के संघर्ष को उभारा है ।

इस उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने यह स्पष्ट किया है कि राजनीतिक प्रपंच और भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले बहुत कम है, जो अपनी शक्ति से लड रहे हैं, शोषण और भ्रष्टाचार का विरोध कर रहे हैं, न्याय चाहते हैं, वे या तो बिसू की तरह मार दिये जाते है या बिन्दा की तरह गिरफ्तार करके सताये जाते हैं या सक्सेना की तरह नौकरी से सस्पेंड कर दिये जाते हैं या लोचन भैया की तरह मन्त्रिमण्डल से निकाल दिये जाते हैं ।

शिक्षित ग्रामीण युवा बिसू खेत मज़दूरों और हरिजनों पर हो रहे शोषण और अत्याचार से क्षुब्ध रहता था । हरिजन टोले में लगाई गई आग के रहस्य को वह जानता था । उसने सारे प्रमाण जुटा लिये थे । रिसर्च स्कोलर महेश से वह नाराज़ था कि "पढे लिखे लोग खाली तमाशबीन ही बनकर बैठे रहेंगे तो इन गरीबों की लडाई कौन लडेगा ? जहाँ दिन दहाडे इतना जुल्म होता हो, वहाँ कोई कैसे अलग अलग बैठकर खाली कागज़ पोतता रह सकता है ?"[1] शोषण, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले वह संघर्षरत है, लेकिन सत्ता के प्रभाव में जोरावर उसकी हत्या करवा देता है ताकि आगजनी का प्रमाण ही न रहे । बिसू द्वारा जुटाए प्रमाण उसका मित्र बिन्दा जानता था, लेकिन उसे बिसू की हत्या के आरोप में गिरफ्तार कर लिया जाता है, क्योंकि बिसू की अधूरी लडाई को बिन्दा लड रहा था । गाँव में सत्ता पोषक जोरावर का आतंक इस तरह फैला हुआ कि सच्चाई जानते हुए भी कोई मुंह नहीं खोलता । पुलिस अफसर सक्सेना के सामने बयान देते हुए भी जोरावर का आतंक उनकी आँखों में समाया हुआ है । बिन्दा की पत्नी रुकमा उसे कुछ भी कहने से रोकती है, क्योंकि सच्चाई बताने का परिणाम वह जानती है । फिर भी बिन्दा बेबाक कहता है कि "ऐसा आतंक आपने कहीं देखा नहीं होगा साहब । लोगों के घर ज़मीन और गाय बैल ही रेहन नहीं रखे हुए हैं जोरावर और सरपंच के यहाँ उनकी आवाज़ और जबान तक बन्धक रखी हुई है । कोई चूँ तक नहीं कर सकते ।"[2] बिसू और बिन्दा सामाजिक व्यवस्था और राजनीतिक तंत्र से क्षुब्ध हैं संघर्षरत हैं । बिसू गाँव की जनता में आत्मविश्वास और संघर्ष चेतना जगाकर उसे अपने हक की लडाई के लिए प्रेरित करता रहा । पर बिसू और बिन्दा अकेले सामाजिक

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 106
2. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 139

राजनीतिक तंत्र से संघर्षरत होकर इसे बदल नहीं सकते, क्योंकि पूरा ढाँचा ही घिनौनेपन से विषाक्त बन चुका है ।

इस उपन्यास का महत्वपूर्ण अंश वह है जिसमें दा साहब की इच्छानुसार बिसू की हत्या की तहकीकात के लिए एस. पी. सक्सेना गाँव जाकर लोगों को विश्वास में लेकर बयान लेता है । जोगेसर साहू, महेशशर्मा, हीरा और बिन्दा के बयान सक्सेना को सोचने के लिए मज़बूर कर देते हैं । डी. आई. जी. की रिपोर्ट आत्महत्या सिद्ध करना चाह रही है, लेकिन सक्सेना सोचते है कि मामला आत्महत्या का नहीं हत्या का है । लेखिका ने सक्सेना की कर्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी और आततायी सत्ता में समझौताहीन संघर्ष को दर्शाया है । "एक ओर वे दा साहब को खुश रखकर अपनी ज़िन्दगी में आनेवाली खुशियों का सपना देखते है और तभी हीरा का कातर चेहरा, बिन्दा का बेबाक बयान उनकी आँखों के सामने आ जाता है और मन में संघर्ष उभरने लगता है ।"[1] सक्सेना का संघर्ष संकल्प में बदल जाता है कि इस मामले का फैसला न्यायपूर्ण होगा । यहाँ लेखिका ने स्पष्ट किया है कि अन्याय, शोषण और फरेब पर टिकी शासन सत्ता के साथ ईमानदार मनुष्य की नहीं निभ सकती । विशेष परिस्थिति आते ही उसका संघर्ष उभर आता है । सक्सेना के संकल्प का परिणाम यह होता है कि बिसू की हत्या के जुर्म में बिन्दा गिरफ्तार करके मारा पीटा जाता है, दा साहब की इच्छानुसार रिपोर्ट पेश करने के नाते सिन्हा आई. जी. बन जाते है और सक्सेना को नौकरी से सस्पेंड कर दिया जाता है । यहाँ

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 129-130

यह भी स्पष्ट है कि पुलिस कानून व्यवस्था धनी मानी व्यक्तियों के हितों के अनुरूप कार्य करती है । अकेला इमानदार व्यक्ति अपनी परिस्थितियों में संघर्षरत होकर निष्क्रिय भले ही पड जाए, पर आततायी शासन व्यवस्था के आगे झुकता नहीं है ।

शिक्षा मंत्री त्रिलोचन सिंह दा साहब की तिकडमबाजी स्वार्थपरता और भ्रष्टनीतियों से क्षुब्ध हो उठते हैं । जनतन्त्र में गरीबों के प्रति हो रहे अत्याचार अन्याय और शोषण को देखकर घुटन महसूस करते हैं । वे दा साहब के मन्त्रिमण्डल को खण्डित करना चाहते हैं । जब उनके ही साथी राव और चौधरी उनसे सौदेबाजी करते है तो लोचन भैया के मन का संघर्ष उभर आता है - "क्या इसी परिवर्तन के लिए सुकुल बाबू की पार्टी और विधान सभा छोडी थी उन्होंने ? इसी क्रान्ति का सपना देखा था ? और क्या इसी टुच्चेपन की सौदेबाजी के लिए मन्त्रिमण्डल गिराने की बात सोच रहे हैं वे ? नाम चेहरे, लेबुल भले ही अलग अलग हों, पर अलगाव है कहाँ ? सुकुल बाबू, दा साहब, राव, चौधरी.....।"[1]

यहाँ लेखिका ने अत्याचारी शासन के हिमायती वर्गों, नेताओं की पदलोलुपता, अवसरवादिता और अधिकारियों का पर्दाफाश ही नहीं किया बल्कि अन्याय और शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले लोचन भैया जैसे विधायकों के मन का संघर्ष भी उभारा है । यह भी स्पष्ट है

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 68

कि समाज में राजनीतिक प्रपंच और भ्रष्ट व्यवस्था में भी आस्था और विश्वास के किरण भी मौजूद है ।

लेखिका ने उपन्यास के माध्यम से यह भी दिखाया है कि सामाजिक जीवन में न्याय का संघर्ष और शोषण के विरुद्ध लडाई अकेले नहीं लडी जा सकती । बिसू बिन्दा की लडाई में सक्सेना, लोचन भैया की हिस्सेदारी, एक दिन अवश्य ही व्यवस्था पोषक राजनीति के प्रपंच को तोड पायेगी, क्योंकि व्यक्ति समाज का संघर्ष नैरंतर्य है, स्थिति सापेक्ष है ।

उपन्यास का आरंभ बिसू की मौत से होता है और अंत बिन्दा की गिरफ्तारी से, पर स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है । समकालीन सामाजिक राजनीतिक जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करके लेखिका ने व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष एवं व्यक्ति और समाज के संघर्ष को उजागर किया है ।

संघर्ष का स्वरूप व्यक्ति में

संघर्ष के स्वर को वैयक्तिक स्तर पर और वैयक्तिक जीवन के पक्षों से जोडकर प्रस्तुत करने का प्रयास आठवें दशक के उपन्यास में मिलता है । वैयक्तिक दृष्टि से जनित समस्याओं के बीच उलझे हुए संबंधों की संघर्षरत

भूमिका अदा करने का प्रयास मन्नू भण्डारी का "आपका बंटी" और मोहन राकेश का "अन्तराल" जैसे उपन्यासों में एक हद तक प्राप्त होता है । यहाँ अपनी अस्मिता की तलाश में संघर्षरत व्यक्तियों की जीवन की विडम्बनायें प्रस्तुत की गयी है । इस दृष्टि से व्यक्तियों का ये आन्तरिक संघर्ष सामाजिक महत्व न रखते हुए भी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट हो जाता है ।

"आपका बंटी" में शकुन और अजय के बीच का जीवन आद्यन्त संघर्षमय लगता है । इसमें प्रस्तुत विवरणों से अनुमान लगा जाता है कि ये दोनों व्यक्ति पति-पत्नी होने के बावजूद एक दूसरे से जुड़ नहीं पाये थे । एक अजीब सी मनस्थिति दोनों को घेर कर अलग अलग सीमा रेखाओं में बाँध देती है । उसको अहंग्रस्त मनस्थिति कह भी ले तो भी अर्थसंपुष्टि नहीं हो सकती । क्योंकि इसमें अहं के आगे भी कुछ है । यों कहें तो सही होगा कि अजय और शकुन कभी भी एक दूसरे को मन से चाह नहीं सके । दिखावे के संघर्ष को झेलते झेलते उनका रिश्ता ऊबाहट की सीमा तक पहुँच जाता है । विरक्ति जनित स्थिति में शकुन मानसिक संघर्ष की शिकार बनती है और अपने आप से जूझती है । व्यक्ति के अन्तर्संघर्ष का पक्ष मन्नू भण्डारी ने यहाँ उभारा है । पति के साथ रहकर भी पति की नहीं बन पाता, पत्नी के साथ रहते हुए भी पत्नी का न बन पाना एक तरह की संघर्षमय स्थिति है जो इस उपन्यास के दोनों पात्रों को ग्रस लेती है । उसमें भी ज़्यादा आत्मपीडा और संघर्ष का शिकार बनता है बंटी । दूसरी शादी के बाद भी शकुन को वह शान्ति नहीं मिल पाती जिसकी तलाश वह करती था । शकुन के आत्मसंघर्ष के माध्यम से वैयक्तिक पक्ष पर

उभरनेवाली मानसिक दुरूहता का और उसके परिणामस्वरूप रिश्तों के बिखर जाने का चित्र लेखिका ने प्रस्तुत किया है । कुण्ठाग्रस्त मनस्थिति के एक विशेष परिणाम के रूप में शकुन की प्रतिक्रिया को आँका भी जा सकता है ।

वैयक्तिक स्तर पर होनेवाला यह संघर्ष, नगर बोध की समस्यायें, अस्मिता की तलाश, अहंवादिता, नारी मुक्ति आदि से जुडकर एक नये स्वरूप को धारण करते है । आत्मनिर्वासन की स्थितियों का चित्रण आठवें दशक में कम हुआ है फिर भी इसके उदाहरण के रूप में और वैयक्तिक तलाश के परिणाम के रूप में शकुन और अजय का संघर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है ।

अन्तराल की नायिका श्यामा के जीवन को भ्रम ने घेर लिया है । अपने पति से सब कुछ पाकर भी वह भीतर ही भीतर घुलती रही है । उसे ऐसा लगता है कि पति के लिए उसका होना किसी दूसरे के होने के लिए है । उसका पति देव अपने पारिवारिक जीवन के प्रति काफी सचेष्ट है । फिर भी श्यामा को लगता है कि उसकी नारी देह पति के लिए प्रतिनिधि देह है, लेकिन श्यामा को किसी की प्रतिनिधि देह होना स्वीकार नहीं है । "वह देर तक यह सोचती करवट बदलती रहती थी कि उसके शरीर को वास्तव में उसी का शरीर मानकर यह व्यक्ति उसके पास आता है या रोज़ वह उसके लिए किसी न किसी और की भूमिका ही निभाती है ।"[1] श्यामा के मानसिक संघर्ष के कारण ही वह इस प्रकार सोचती है ।

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 149

ऐसी संशय युक्त जीवन परिस्थिति से वह अलग होने की अनिवार्यता का अनुभव करती है । इसके कारण ही देव के निधन के बाद वह कुमार के प्रति आकर्षित होती है । लेकिन कुमार के वासनात्मक आघात को वह अपनी नारी देह के लिए सुखद मानकर स्वीकारने से इनकार करती है, जिसमें नारी की प्रतिनिधि देह भोगने की इच्छा प्रबल है ।

देव और अपने भोगे गये क्षणों के संबंध में भी वह स्वीकारती है । "अपनी ज़िन्दगी का कुछ डेढ साल मैं ने उस आदमी के साथ बिताया था । लेकिन आज भी मैं उसके साथ अपने संबंध को ठीक ठीक नहीं समझ पाती । वह मेरे लिए बहुत अजनबी है या बहुत अपना, इस विषय में मुझे अपने अंदर अलग अलग प्रतिक्रियायें मिलती है ।"[1]

अपने ही बारे में और अपने अनुभवों के बारे में कोई निर्णय लेने में असमर्थ श्यामा वैयक्तिक संघर्ष के पथ पर है यह कहना उचित नहीं लगता जैसे वैयक्तिक संघर्ष का कोई विशेष पक्ष भी इसमें नहीं उभरता । श्यामा की सारी प्रतिक्रियायें और शंकाग्रस्त मनस्थिति मानसिक असन्तुलन की परिणाम लगती है । व्यक्ति वैचित्र्य के आधार पर चारित्रिकता को उभार कर कथा में अविश्वसनीयता लाने की कोशिश करनेवाले मोहन राकेश आठवें दशक के सशक्त प्रवृत्तियों के लेखक नहीं माने जा सकते । अन्तराल का कथ्य भी वैयक्तिक संघर्ष से युक्त नहीं दिखाई पडता । फिर भी अजनबीपन

---

1. मोहन राकेश - अन्तराल - पृ. 70

को उजागर करने के कारण श्यामा के चरित्र पर संघर्ष की दृष्टि से सोचना पड़ता है । वैसे सातवें दशक की प्रवृत्ति की ही अधिक छाप अन्तराल में मिलती है । एक पहेली के रूप में यदि श्यामा के चरित्र को स्वीकार ले तो उसमें दिखाई पड़नेवाला पुरुष विरोध वैज्ञानिक नहीं लगता । डेढ साल तक पति के साथ रहकर उस पुरुष को न पहचान पाना श्यामा के संघर्ष का परिणाम है यह नहीं कहा जा सकता । कुमार जैसे दूसरे पुरुष से मिलकर फिर एक बार पुरुष शरीर को ठुकराने की कोशिश करना किस प्रकार के संघर्ष का परिणाम है यह भी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता । इसलिए श्यामा का संघर्ष संघर्ष न होकर आत्मनिषेध की सीमा पर पहुँच जाता है । अतः वैयक्तिक संघर्ष के स्वरूप से अन्तराल के प्रमुख पात्र श्यामा का संघर्ष जुड नहीं पाता ।

उधर लाल पीली ज़मीन के केशव सामाजिक अन्याय को तो देखता है । परन्तु उसके विरुद्ध संघर्ष करने की क्षमता नहीं रख पाता । वैयक्तिक स्तर पर संघर्ष करना उसके बस की बात नहीं है । कई बातों के बारे में वह सोचता है । लेकिन ख्यालों की दुनिया में सारी बातें खुद ही समाप्त हो जाती है । आन्तरिक संघर्ष भी केशव में दिखाई नहीं पड़ता । लगता है कि प्रतिक्रिया हीन समाज का वह एक प्रतिनिधि मात्र रह जाता है ।

इस तरह आठवें दशक के उपन्यासों में वैयक्तिक संघर्षों का स्वर गौण हो गया है । क्योंकि सामाजिक प्रतिबद्धता से युक्त विषयों पर लेखनी फेरते समय उपन्यासकारों के पास आत्मविद्रोह वैयक्तिक संघर्ष

आदि के लिए कम समय रह गया । व्यक्ति की विचित्र मानसिकता और व्यक्तिवादी चेतना से जन्म लेनेवाला संघर्ष आठवें दशक में आते आते कम प्रासंगिक हो गया है क्योंकि अन्ततोगत्वा आठवें दशक का उपन्यासकार यह मानता है कि व्यक्तिवादिता और उसकी विचित्रता एक सीमा तक बनी बनायी हुई है और इसमें यथार्थ का पक्ष तुलनात्मक रूप में कम । वस्तुतः उपन्यासकारों ने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संघर्ष के स्वर को उभारने पर ज़ोर दिया है ।

व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय

आठवें दशक के उपन्यासों का कथ्य और उसके बीच प्रतिबिंबित होनेवाली दृष्टि पूर्व दशक की दृष्टि से भिन्न रहती है । वैयक्तिक स्तर पर होनेवाले अन्वेषण की समाप्ति आठवें दशक की रचना प्रक्रिया को रूपायित देते हैं । दायित्वपूर्ण लेखन के प्रति जागरूकता उपन्यास की अन्तर्चेतना को प्रभावित करती है । इस कारण व्यक्ति को सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोडकर ऐसी गाथा प्रस्तुत की गयी है जहाँ समाज से कटकर नहीं जुडकर ही वह अपने जीवन को अर्थपूर्ण बना सकता है । इस कारण व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय की और वैचारिक स्तर पर समन्वयवादी अन्वेषण की शुरूआत आठवें दशक के उपन्यासों में दिखाई पडती है ।

समाज की पृष्ठभूमि में व्यक्ति सत्य को ढूँढना और उसकी आशायें और आकांक्षाओं को आँकना कई उपन्यासों का लक्ष्य रहा है ।

वर्णित उपन्यासों में इसके विभिन्न आयाम परिलक्षित होते हैं ।

नाच्यौ बहुत गोपाल में उच्चजाति की निर्गुणिया समाज की कर्मनीति के अनुसार भले परिवार की बेटी न रहकर वासना की शिकार बनती हुई बूढे की पत्नी बनने के बाद भंगी के साथ भागने के लिए विवश हो जाती है । निर्गुणिया के जीवन की विविध दशाओं का चित्रण सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर हुआ है । समाज द्वारा कल्पित आर्थिक, धार्मिक और जातिगत पाखण्डों से गुज़रती हुई भंगिन बन जाना वैयक्तिक स्तर पर प्रश्नपरक है । इसलिए व्यक्ति को समाज के समन्वित जीवन की पृष्ठभूमि में रखकर उपन्यास का रूपायन हुआ है । इस कथ्य के माध्यम से उपन्यासकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समन्वय के आधार पर व्यक्ति सत्य को सामाजिक सत्य से जोडकर नये सत्य बोध की सृष्टि की जा सकती है और यह सत्य व्यक्ति का मात्र न होकर समाज का सत्य बन सकता है ।

उधर मुरदाघर में भी कोई व्यक्ति अपना चेहरा स्पष्ट नहीं करता । व्यक्ति-हीन समाज की घृणित मुद्रायें इस उपन्यास में आधन्त दिखाई पडती है । गरीबी, भूख, बेरोज़गारी आदि के शिकार मनुष्य सामाजिक शोषण से ग्रस्त परिस्थिति में किस तरह मुरदा बन जाते है इसकी तस्वीर प्रस्तुत उपन्यास में है । यहाँ समाज के अर्थपूर्ण निषेध के बीच जीवन को बनाये रखने के लिए घृणित कार्य करनेवाले लाशों की ज़िन्दगी है जो अपने आप में एक सवाल बनकर हमारे आँखों के सामने खडी होती है । यह व्यक्ति

समाज के कानसरग्रस्त अंग है और उनकी ज़िन्दगी समाज के सडन की प्रतीकात्मक बोध कराती है । मुरदाघर इस दृष्टि से सडन से समाज को बचाने का आह्वान देकर यथार्थ की विकृति का रूप प्रस्तुत करता है । यहाँ भी कथ्य सौ फीसदी सामाजिक पृष्ठभूमि का अंग बनकर उभरता है ।

उधर लाल पीली ज़मीन जैसे उपन्यास में अभिव्यक्त जीवन कालुष्य पूर्ण होते हुए भी सामाजिक अन्याय का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए व्यक्ति और समाज के क्रोधग्रस्त संबंधों को सुधारने का आह्वान प्रस्तुत करता है । वैसे मटमैली ज़िन्दगी की तस्वीर लाल पीली ज़मीन प्रस्तुत करता है । लाल, खून खराबे का और पीत वर्ग मृत्यु का बोधक है । जिस समाज में लाल पीले धब्बे होते है वह रुग्णता का शिकार अवश्य बनता है । गोविन्द मिश्र ने प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से सामाजिक चेतना को रुग्णता से मुक्त करने के लिए अपराधी तत्वों का सफाया लक्षित किया है । यहाँ भी कथा और उस पर आधारित पात्र सामाजिक यथार्थ के अनदेखे पक्षों को प्रस्तुत करते हैं । व्यक्ति की अजनबीपन नहीं बल्कि समाज का विकराल स्वरूप ही उभरकर आता है । केशव एक प्रतीक मात्र है । जो इस आतंक को, उत्पीडन को और निषेध को अपने ही अंदर समाकर समन्वय की स्थितियों की तलाश में लगा रहता है । शायद उपन्यास के समन्वय की भावना परोक्ष रूप में भी विधमान लगती है ।

उधर वर्ग संघर्ष की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और समाज के समन्वय की अवधारणा को प्रश्रय देने का भी प्रयास उपन्यासों में परिलक्षित

होता है । "प्रतिबद्ध" और "समय बीता हुआ" समाज में मज़दूर वर्ग के जीने के अधिकारों के प्रति जागरूकता प्रकट करते हैं । मज़दूर बनकर जीना और अधिकारों से वंचित रहना व्यक्ति की नियति नहीं अपितु समाज की क्रूरता है । इस क्रूरता को समाप्त करके मानवीय अधिकारों की सुरक्षा के माध्यम से मज़दूरों के वर्ग को समाज की मुख्य धारा से जोडकर समन्वित जीवन का विधान करना उपन्यासकारों का लक्ष्य रखता है । आज़ादी के चालिस वर्षों के बाद भी अगर मज़दूर वर्ग के साथ समन्वय की भावना की स्थापना नहीं की जाती तो यह घोर अन्याय है । इन उपन्यासों में भी कथापुरुष और पात्र व्यक्ति के प्रतिनिधि नहीं समाज के किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि बनकर हमारे सामने आती है । इस दृष्टि से सामाजिक समन्वय की स्थितियाँ यहाँ अपेक्षित हो जाती है ।

"कटरा बी आर्ज़ू" की स्थितियाँ व्यक्ति सत्य का उन्मूलन करनेवाली इमरजेन्सी के प्रति आक्रोश प्रकट करती है । आपात स्थिति की घोषणा से जनित परिस्थितियाँ आज़ादी पर किये जानेवाले प्रहार के परिणाम को दिखाती है । साथ ही साथ यह भी स्पष्ट करती है कि किस तरह निरीह और होनहार व्यक्तियों पर अत्याचार किया जाता है । यहाँ के प्रेमानारायण, आशाराम देशराज और मास्टर बद्रुल हसन, ये तो व्यक्ति तो हैं परन्तु दूसरी ओर आक्रोश के विविध स्वर भी है । इनकी ज़िन्दगी को इमरजेन्सी की विभीषिका से जोडनेवाला उपन्यास व्यक्तियों की प्रतिष्ठा न करके उस बोध की तलाश करता है जहाँ सत्ता और राजनीति समन्वय की भावना को व्यक्ति के प्रति किस तरह से प्रयुक्त कर सकती है । व्यक्तियों

पर किये जानेवाले अत्याचार इस तलाश को अधिक अर्थपूर्ण कर देते हैं । और सिद्ध करते हैं कि समाज ऐसे अपराधों से जीवन्तता खो बैठता है । और उसका परिणाम समूचे देश के लिए नकारात्मक भी हो सकता है । दूसरे शब्दों में समन्वय की भावना सकारात्मक स्थितियों की तलाश में उपन्यास की गहराई में प्रवर्तमान है ।

व्यक्ति का कोई अस्तित्व राजनैतिक स्तर पर नहीं स्वीकारा जा सकता । राजनीति व्यक्तियों को अस्तित्वहीन वोटों के रूप में देखती है । हरिजन बस्तियों की हाहाकारपूर्ण ज़िन्दगी, उनकी पीडा, उनके प्रति किये जानेवाले अन्याय आदि के माध्यम से सामाजिक समन्वय के एक और महत्वपूर्ण पक्ष को उभारा गया है । महाभोज का कथ्य एक वर्ग के धर्म युद्ध को नहीं अपितु जीने की हक को बनाये रखने की कहानी प्रस्तुत करती है । समाज के दलित वर्ग के प्रति बहुसंख्यक जातियों से युक्त समाज इस तरह का रवैया अपना सकता है और किस तरह का रवैया उसी को अपनाने चाहिए था उसी का विश्लेषण उपन्यास में राजनैतिक पृष्ठभूमि पर सत्ता के अधार्मिक कारनामों के बीच लेखिका ने प्रस्तुत किया है जो व्यक्ति और समाज के नहीं वर्ग और समाज के बीच के समन्वय की दिशा की खोज का सूचक है । महाभोज का बिसू एक व्यक्ति नहीं है, एक वर्ग है । जो इस समन्वय की अवधारणा को अत्यधिक प्रासंगिक बना देती है ।

वैयक्तिक चेतना के स्पर्श को अधिक महत्व प्रदान करनेवाले तीन उपन्यास हैं आपका बंटी, अन्तराल और चित्तकोबरा । इनमें

आनेवाली स्थितियाँ चित्तकोबरा और अन्तराल को छोडकर कहीं न कहीं समन्वयवादी है । चित्तकोबरा को सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोडा नहीं जा सकता । और इसमें प्रस्तुत की गयी प्रवृत्तियाँ व्यक्ति मन की विकृतियों से अधिक प्रभावित है । फिर भी एक दृष्टि से मन की उच्छृंखलता का कारण पति की उदासीनता में ढूँढा जा सकता है । इस दृष्टिकोण से समन्वय की हल्की रेखा यहाँ पर दिखाई पडती है । परन्तु अन्तराल की स्थितियाँ व्यक्ति वैचित्र्य से जुडी हुई रहती है जहाँ अकारण अपने व्यवहार को अनोखा बनानेवाली नायिका सामाजिक समन्वय की सहकामिनी नहीं होती । परन्तु शकुन के साथ जो हुआ है उसमें सामाजिक दृष्टि से पारिवारिक असन्तुलन और पति-पत्नी के संबंधों के विघटन दिखाई पडते हैं । टूटकर बिखर जानेवाले परिवार में अनाथ बनकर रहनेवाला बंटी परोक्ष रूप में सामाजिक समन्वय को व्यक्ति चेतना के परिप्रेक्ष्य में आँकने के लिए हमें बाध्य करता है । व्यक्ति यदि परिवार को तोडकर नये संबंधों को जोडना चाहेगा उस समाज की स्थिति किस तरह खतरनाक बन सकती है इसी की सूचना इस उपन्यास में परिलक्षित होती है । समाज के प्रति व्यक्ति के समन्वय की दृष्टि का होना यहाँ अपेक्षित है । आप का बंटी इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज के संबंधों में समझौते की स्थिति के होने की माँग करता है ।

कुलमिलाकर उपर्युक्त उपन्यासों में दृष्टिगत होनेवाली परिस्थितियाँ व्यक्ति और समाज के बीच व्यवहार आचरण और दृष्टि के समझौते की आवश्यकता पर बल देते है । यही समझौता समन्वय के अंदर विद्यमान होता है । कई बातों को समाज को स्वीकारना चाहिए क्योंकि

रूढिगत मूल्यों का काल समाप्त हो गया है । बदलती हुई परिस्थितियों के बीच पुराने मूल्यों को पकडे रखना सामाजिक दृष्टिकोण के लिए उचित नहीं है । व्यक्ति की मान्यताओं को समय की विशिष्ट अवधारणाओं के साथ जोडकर देखने के लिए सामाजिक नियमों का, आचरणों का, विश्वासों का, व्यवहार का बदलना आवश्यक है । उसी तरह व्यक्ति को भी पूर्ण रूप से समाज निषेध करने के उद्देश्य से अपने आचरण को प्रवर्तमान नहीं करना चाहिए । सामाजिक मर्यादाओं के निषेध मात्र के लिए व्यक्ति को प्रयत्नशील नहीं होना चाहिए । व्यक्ति की आज़ादी सुरक्षित बनी रहें । यह अत्यन्त आवश्यक है । × × × × × × × × × परन्तु इसके लिए कहीं न कहीं समझौते की ओर भी झुकना व्यक्ति के लिए ज़रूरी है । यदि व्यक्ति के प्रति समाज सहानुभूति रखेगा और समाज के मान मर्यादाओं के प्रति थोडी बहुत हमदर्दी व्यक्ति रखेगा तो समन्वय संभव है । जहाँ समाज रूढियों से पंगु हो जाता है, रुग्णता से पीडित हो जाता है वहाँ व्यक्ति को अपनी जिम्मेदारी निभाने के लिए क्रियात्मक, रचनात्मक और परिवर्तनात्मक भूमिका अदा करनी है । आठवें दशक के उपन्यासों का आन्तरिक स्वर इस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए उभरनेवाले अनेक स्वरों में से एक है ।

उपसंहार

उपसंहार

आठवें दशक के उपन्यासों की सामाजिक चेतना के बदलते आयामों पर विचार करते समय महत्वपूर्ण तथ्यों पर आ पहुँचना स्वाभाविक है । इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आठवें दशक का उपन्यासकार व्यक्ति समाज और परिवेश के प्रति अधिक सजग है । आठवें दशक के जीवन की बदलती स्थितियों को अपने सही मायनों में परखने में लेखकों ने बड़ी सावधानी बरती है । काल्पनिक स्थितियों की उपेक्षा करते हुए जीवन की सही स्थितियों का आधार ढूँढने का प्रयास उपन्यासों में दृष्टगत होता है । परिवेश जनित दुविधा और उन दुविधाजनक स्थितियों की त्रासदायक परिणति का अंकन आठवें दशक के उपन्यास को अधिक सचेत बनाता है । परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने में इस दशक के उपन्यासकार सब से आगे दिखाई पड़ते हैं ।

लेखन का एक और पक्ष प्रतिबद्धता के स्वरों को ध्वनित करता है । वैयक्तिकता की सीमारेखाओं को तोड़कर सामाजिक चेतना के स्वर को उभारने का प्रयास उपन्यासों में दृष्टव्य है । व्यक्ति और समाज के द्विविध संबंधों के बीच उभरनेवाली संघर्षमय स्थितियों की भी प्रभावात्मक प्रस्तुति उपन्यासों में मिलती है । सामाजिक चेतना के पक्ष को उभारते समय व्यक्ति की आज़ादी की सीमारेखाओं पर आ पड़नेवाले संकट बोध का भी चित्र प्रस्तुत करने में उपन्यासकार आगे रहे ।

उधर सामाजिक चेतना को एक बड़ी सीमा तक संकटग्रस्त दिखाने की कोशिश भी उपन्यासों में मिलती है । मूल्यच्युति के परिणामस्वरूप उभरनेवाली स्थितियाँ सामाजिक बोध को जब आतंकित करती है तब सामाजिक सत्य का चेहरा विकृत होने लगता है । इन विकृतियों के पीछे घटित होनेवाली राजनैतिक साजिशें स्वार्थग्रस्त कर्मपद्धतियाँ घिनौने करतूत आदि का फर्दाफाश करते हुए उपन्यासकारों ने जनता को चेतावनी देने की कोशिश की है । सुधार के पक्षों को ऊपर उठाना वैसे लेखक का काम नहीं है । स्थितियों का बोध कराके प्रतिक्रिया को जन्म देने का उद्देश्य प्रत्येक रचनाकार के लेखन पद्धति को आयामित करता है । इस दृष्टि से आठवें दशक का उपन्यास व्यक्ति समाज और परिवेश के प्रति दायित्वपूर्ण रवैया अपनाता है ।

उधर संघर्ष के चित्रों को प्रस्तुत करते समय भी समन्वय की संभावनाओं का निषेध लेखक नहीं करता । यह इस कालखण्ड की रचनाओं में दिखाई पड़नेवाला प्रतिबद्धात्मक पक्ष है । स्वस्थ लेखन की दृष्टि से उपन्यास की यात्रा का महत्वपूर्ण चरण इस दायित्वपूर्ण लेखन की गहराई में छिपा पड़ा है । वस्तुतः उपन्यास के आगे की यात्रा का महत्वपूर्ण चरण इस दृष्टि से आयामित होता है ।

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

सन्दर्भ ग्रंथ-सूची

आधार ग्रन्थ

1. आपका बंटी - मन्नू भण्डारी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, बारहवाँ संस्करण 1989.

2. अन्तराल - मोहन राकेश, राजकमल प्रकाशन
8 फैज बाज़ार,
दिल्ली - 6, 1972.

3. मुरदाघर - जगदम्बा प्रसाद दीक्षित
राधाकृष्ण प्रकाशन
2 अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - 110002, 1974.

4. प्रतिबद्ध - सतीश जमाली
चित्रलेखा प्रकाशन
147 सोहबतियाबाग
इलाहाबाद -6, 1974.

5. लाल पीली ज़मीन - गोविन्द मिश्र
राजकमल प्रकाशन
1-बी नेताजी सुभाषमार्ग
नई दिल्ली - 110002, 1988.

6. नाच्यौ बहुत गोपाल - अमृतलाल नागर
राजपाल एण्ड सन्ज़
काश्मीरी गेट
दिल्ली, 1978.

7. समय बीता हुआ - आशीष सिन्हा
राजपाल एण्ड सन्ज़
काश्मीरी गेट
दिल्ली, 1978.

8. कटरा बी आर्ज़ू - राही मासूम रजा
राजकमल प्रकाशन
8 नेताजी सुभाषमार्ग
नई दिल्ली - 110002, 1978.

9. चित्तकोबरा - मृदुला गर्ग
मयूर पेपर बैक्स
ए-95 सेक्टर-5
नोएडा - 201301, 1990.

10. महाभोज - मन्नू भण्डारी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, 1979.

सहायक ग्रंथ

11. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - डा. रामविनोद सिंह
अनुपम प्रकाशन
पाटना, 1980.

12. आधुनिकता के बारे में तीन अध्याय - धनंजयवर्मा
विद्या प्रकाशन मंदिर
नई दिल्ली

13. आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास - डा. रजनीकान्त जैन
ऋषभचरण जैन एवम् सन्तति
नई दिल्ली, 1988.

14. आधुनिक हिन्दी उपन्यास सृजन और आलोचना - चन्द्रकान्त बांदिवडेकर
नेशनल पाब्लशिंग हाउस
दरियागंज
नई दिल्ली, 1985.

15. आधुनिक हिन्दी उपन्यास विविध आयाम - डा. विवेकी राय
अनिल प्रकाशन
189 ए/1 अलोपीबाग कोलनी
इलाहाबाद, 1990.

16. अमृतलाल नागर के उपन्यास - डा. हेमराज कौशिक
प्रकाशन संस्थान
4 715/21 दयानन्दमार्ग
दरियागंज
नई दिल्ली - 110002.

17. उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान - डा. दंगल झाल्टे
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, 1987.

18. द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
राजपाल एण्ड सन्ज़
दिल्ली, 1982.

19. नई कहानी की भूमिका - कमलेश्वर
शब्दकार
दिल्ली, 1978.

20. मन्नू भण्डारी का उपन्यास साहित्य - नन्दिनी मिश्र
हिन्दी साहित्य भण्डार
लखनउ, 1983.

21. समकालीन कहानी के विविध संदर्भ- डा. कीर्ति केसर
नचिकेता प्रकाशन
दिल्ली, 1987.

22. साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में नारी - डा. किरण बाला अरोडा
अन्नपूर्ण प्रकाशन
127/1 100 डब्ल्यू ।
साकेत नगर, कानपूर, 1990.

23. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैचारिकता - डा. आशा मेहता
भारतीय ग्रंथ प्रकाशन
27/3 कूचा चेलान
दरियागंज
नई दिल्ली-110002, 1988.

24. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास में मानवमूल्य और उपलब्धियाँ - डा. भागीरथ बडोल
स्मृति प्रकाशन, 1983.

25. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास मूल्य संक्रमण - डा. हेमेन्द्रकुमार पानोरी
अनुपमा प्रकाशन
बंबई, 1974.

26. साहित्य और सामाजिक मूल्य - डा. हरदयाल विभूति प्रकाशन
दिल्ली, 1985.

27. समकालीन परिवेश और प्रासंगिक रचना संदर्भ - अशोक हजारे
डा. माधवसोन टक्के
विकास प्रकाशन
कानपूर, 1988.

28. समकालीन कहानी में बदलते पारिवारिक संबंध - डा. शानवती अरोडा
सूर्य प्रकाशन
दिल्ली, 1989.

29. समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका - डा. रणवीर रांग्रा
इन्द्र प्रकाशन
अलिगढ, 1983.

30. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा - डा. रामदरश मिश्र
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली

31. हिन्दी उपन्यास और जीवन मूल्य - डा. मोहिनी शर्मा
साहित्यागम्
जयपूर, 1986.

32. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना - अमरसिंह जगराम लोधा
चिन्तन प्रकाशन
कानपूर, 1985.

33. हिन्दी उपन्यास समाज और व्यक्ति का द्वन्द्व - डा. मंजुला गुप्ता
सूर्य प्रकाशन
दिल्ली, 1986.

34. हिन्दी उपन्यास समकालीन परिदृश्य - डा. महीप सिंह
लिपि प्रकाशन
नई दिल्ली, 1980.

35. हिन्दी उपन्यास सातवाँ दशक - डा. विजयश्री बरहाटे
संचयन
कानपूर, 1988.

36. हिन्दी कथा साहित्य विविध - डा. महेन्द्र भटनागर
आत्माराम एण्ड सन्ज़
दिल्ली, 1988.

37. हिन्दी कहानी आठवें दशक - डा. सरबजीत
संजीवन प्रकाशन
कुलक्षेत्र, 1982.

38. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष सं. डा. रामदरश मिश्र
गिरनार प्रकाशन
महेसाना, 1984.

39. गोविन्द मिश्र सृजन के आयाम - सं. चन्द्रकान्त बादिवडेकर
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002, 1990.

40. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक सन्दर्भ - डा. शील प्रभावर्मा
विद्या विहार
106/154 गाँधीनगर
कानपुर - 12.

41. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में वैचारिकता - डा. शशि जेकब
जवाहर पुस्तकालय
मथुरा

42. कथाकृति मोहन राकेश - ओम प्रभाकर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, 1992.

43. मोहन राकेश का साहित्य समग्र मूल्यांकन - डा. शरेशचन्द्र चुल्लीमठ
आर्य प्रकाशन मंडल
1x/221, सरस्वती भंडार,
गांधी नगर, दिल्ली-110031.

44. दस्तावेज - जगदीश चतुर्वेदी
वसुन्धरा पब्लिशिंग हाउस
इन्द्रपुरी, नई दिल्ली

45. प्रतिबद्धता और मुक्तिबोध का काव्य - प्रभात त्रिपाठी
वाग्देवी प्रकाशन
चन्दनसागर
बीकानेर

46. साहित्य और आधुनिक युग बोध - देवेन्द्र इस्सर
कृष्णा ब्रदर्स
कचहरी रोड
अजमेर

47. मन्नू भण्डारी का कथा साहित्य - गुलाब राव हाडे
विद्या विहार
106/154 गाँधीनगर
कानपूर, 1987.

48. आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में राजनीतिक और आर्थिक चेतना - पीतांबर सरोदे
जवाहर पुस्तकालय
सदर बाज़ार
मथुरा

49. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना - डा. जितेन्द्र वत्स
साहित्य रत्नाकर
कानपूर, 1985.

50. हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक संदर्भ - उषा मंत्री
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
प्र. सं. 1991.

पत्र पत्रिकायें

1. समीक्षा - मार्च-अप्रैल 1979
2. समीक्षा - जनवरी-मार्च 1980
3. समीक्षा - अक्तूबर-दिसम्बर 1980
4. समीक्षा - नवम्बर-दिसम्बर 1977
5. ज्योत्सना - दिसंबर 1971